विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष : २७ अंक ४

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर

• १९८९ •

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी गौतमानन्द

सह सम्पादक

स्वामी निखिलात्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

○

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२००९ (म.प्र.)

श्रीमत् स्वामी आत्मानंदजी महाराज

(जन्म–६ अक्टूबर १९२९)　　(निर्वाण–२७ अगस्त १९८९)

श्रीमत् स्वामी आत्मानन्दजी महाराज

जन्म : ६ अक्टूबर १९२९ निर्वाण : २७ अगस्त १९८९

हमें अत्यन्त दु:ख के साथ सूचित करना पड़ रहा है कि रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के संस्थापक–सचिव तथा विवेक ज्योति के सम्पादक श्रीमत् स्वामी आत्मानन्द जी महाराज रविवार, दिनांक २७ अगस्त १९८९ को एकादशी के दिन मध्याह्न ३.१५ बजे ब्रह्म-लीन हो गये। स्वामीजी इन्दौर से जीप द्वारा रायपुर लौट रहे थे कि राजनांदगांव से १७ कि.मी. पहले कोहका नामक ग्राम के पास २.३० बजे के लगभग उनकी जीप उलट गयी और स्वामीजी जीप के नीचे आ गये। ग्रामवासियों की त्वरित सहायता से उन्हें जिला चिकित्सालय राजनाँदगाँव लाया गया। चिकित्सालय के डॉक्टरों के भरसक प्रयत्न के बावजूद भी उनकी संज्ञा नहीं लौटी और वे सवा तीन बजे नश्वर देह का परित्याग कर ब्रह्म में लीन हो गये। वे ६० वर्ष के थे।

स्वामीजी का जन्म मध्यप्रदेश में रायपुर जिले के बरबन्दा नामक ग्राम में ६ अक्टूबर १९२९ को हुआ था। उनके पूर्वाश्रम का नाम तुलेन्द्र सिंह वर्मा था। उनका विद्यार्थी जीवन बड़ा मेधावी रहा था। उन्होंने १९५१ में नागपुर विश्वविद्यालय से "प्योर मैथेमेटिक्स" (शुद्ध गणित शास्त्र) में एम.एस.सी. की उपाधि प्राप्त की तथा सर्वाधिक गुणांक पाने के कारण वे स्वर्णपदक के अधिकारी हुए। इसके तुरन्त बाद ही उन्होंने विश्व विख्यात रामकृष्ण संघ के नागपुर केन्द्र में प्रवेश ले लिया। उनकी मंत्र दीक्षा श्रीमत् स्वामी विरजानन्द-

जी महाराज से तथा संन्यास दीक्षा श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज से हुई थी ।

स्वामीजी ने १९६२ में रायपुर नगर में श्री रामकृष्ण सेवा समिति का कार्यभार अपने कन्धों पर लिया । यह संस्था १९६८ में रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ के अन्तर्भुक्त कर ली गयी तथा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के नाम से परिचित हुई । स्वामीजी इस रायपुर–केन्द्र के संस्थापक, संचालक और सचिव थे तथा इसके माध्यम से अनेकविध सेवा-कार्य चला रहे थे, जिनमें पॉली-क्लीनिक, चल-चिकित्सालय, होमियोपैथिक औषधालय, विशाल सार्वजनिक ग्रन्थालय एवं नि:शुल्क छात्रावास तथा भव्य श्रीरामकृष्ण–मन्दिर आदि प्रमुख हैं ।

अगस्त १९८५ से स्वामीजी ने बस्तर जिले के नारायणपुर स्थान में भी वनवासियों के उत्थान के लिए एक विराट "वनवासी सेवा केन्द्र" प्रारम्भ किया था, जिसके अन्तर्गत "अबुझमाड़ ग्रामीण विकास प्रकल्प" चलाया जा रहा है । लागत की दृष्टि से यह प्रकल्प १९९० तक लगभग अढ़ाई करोड़ रुपये का है । वहाँ पर वनवासी बच्चों के लिए नि:शुल्क पब्लिक स्कूल, ३० शय्यावाला अस्पताल, चल-चिकित्सालय, वनवासी युवा प्रशिक्षण केन्द्र, कुटीर उद्योग प्रशिक्षण केन्द्र, उचित मूल्य दुकान आदि चलाये जा रहे हैं । अबुझमाड़ क्षेत्र के गहन जंगलों में भी उन्होंने ५ सेवा केन्द्र खोले थे, जिनमें से प्रत्येक में आश्रम–विद्यालय, स्वास्थ्य सेवा, पेयजल, उचित मूल्य दुकान तथा कुटीर उद्योग प्रशिक्षण की व्यवस्था है ।

स्वामीजी अत्यन्त प्रतिभाशाली वक्ता और लेखक थे । वे वाणी के साथ ही कलम के भी धनी थे तथा अध्यात्म एवं अन्य सम्बन्धित विषयों पर अपने सारगर्भित एवं प्रभावी व्याख्यानों, प्रवचनों और

लेखों के लिए देश भर में विख्यात थे। हिन्दी भाषा के समान ही अंगरेजी, बंगला एवं छत्तीसगढ़ी पर भी उनका समान प्रभुत्व था। उनके प्रवचन और लेख उनकी बुद्धि की प्रखरता को तथा आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों को वैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिपादित करने की उनकी अपूर्व क्षमता को प्रदर्शित करते हैं। विज्ञान का विद्यार्थी होने के नाते उनका विवेचन वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति को मुग्ध और सन्देह रहित कर देता है।

स्वामीजी को अन्तर्मानवी सम्बन्धों में गहरी अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी। वे यह समझते थे कि आज का मानव विज्ञान और तकनीकी ज्ञान से उत्पन्न अपनी दुर्धर्ष शक्ति के फलस्वरूप तनाव और दिशाहींनता का शिकार हो गया है। इसलिए वे अपने विवेचन को मात्र शास्त्रीय या सैद्धातिक जामा ही नहीं पहनाते थे अपितु अनुभूति के आलोक में उसे बोधगम्य बनाकर आज की जटिल समस्याओं का व्यवहारिक समाधान प्रस्तुत करते थे।

उनके श्रीमद्भगवद्गीता पर हुए २१३ प्रवचनों में से प्रथम ४४ प्रवचनों का सग्रह "गीतातत्व-चिन्तन" (प्रथम भाग) के रूप में प्रकाशित हुआ है। इसमें प्रथम दो अध्यायों पर ही विवेचना हो पायी है। इसकी लोकप्रियता का अन्दाज इसी से लगाया जा सकता है कि १४ महीनों में ही उसकी ७,००० प्रतियाँ बिक गयीं।

स्वामीजी का सगठन–कौशल अपूर्व था। उनके कुशल निर्देशन और संरक्षण में शुरू किये मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा और राजस्थान में रामकृष्ण-विवेकानन्द के नाम पर लगभग २० आश्रम परिचालित हो रहे हैं।

स्वामीजी के कुशल सम्पादन में आश्रम की हिन्दी त्रैमासिक पत्रिका "विवेक-ज्योति" जनवरी १९६३ से नियमित रूप से प्रकाशित की जा रही थी जिसके लगभग ३,००० आजीवन तथा ५,००० वार्षिक ग्राहक हैं। उनके अक्लान्त परिश्रम के फलस्वरूप अनेक बाधाओं के बावजूद भी यह पत्रिका उत्तरोत्तर प्रगति लाभ करती रही है।

उनके निधन से रामकृष्ण मठ और मिशन की अपूरणीय क्षति हुई है। "विवेक ज्योति" तो एक तरह से अनाथ ही हो गयी है। "विवेक-ज्योति" परिवार अपनी तथा अपने पाठकों की ओर से उन्हें सश्रद्ध प्रणाम निवेदित करता है।

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २७] अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर [अंक ४

★ १९८८ ★

महात्मा कौन ?

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥

—विपत्ति के समय धैर्य, ऐश्वर्य में क्षमा, सभा में वाक्चातुरी, संग्राम में पराक्रम, यश - प्राप्ति की अभिलाषा और शास्त्रों में प्रगाढ़ अनुराग का होना - ये गुण महात्माओं के स्वाभाविक हुआ करते हैं ।

——भर्तृहरिकृत 'नीतिशतकम्', ६३

अग्नि-मंत्र

(एक मद्रासी शिष्य को लिखित)

५४१, डियरबोर्न एवेन्यू, शिकागो,
२८ जून, १८९४

प्रिय—,

उस दिन मैसूर के जी० जी० का एक पत्र मिला। मुझे दुःख है कि जी० जी० की दृष्टि में मैं सर्वज्ञ बन चुका हूँ, नहीं तो वह पत्र में अपने कन्नड़-पते को और भी स्पष्ट रूप से लिखता। इसके अलावा शिकागो के सिवाय और किसी पते पर मुझे पत्र लिखना बहुत भारी भूल है। हालाँकि यह भूल पहले मुझसे ही हुई, क्योंकि अपने मित्रों की सूक्ष्म बुद्धि के बारे में मुझे विचार करना चाहिए था, जो मेरे पत्रों के ऊपर लिखे हुए जिस किसी भी पते को देखकर मुझे पत्र भेज रहे हैं। मेरे मद्रासी बृहस्पतियों (अर्थात् अक्लमन्दों) से कहना कि उनको यह तो अच्छी तरह से मालूम ही है कि उनके पत्रों के पहुँचने से पहले ही वहाँ से हज़ार मील की दूरी पर मैं पहुँच जाता हूँ, क्योंकि मैं तो बराबर घूम ही रहा हूँ। शिकागो में मेरे एक मित्र हैं, उनका मकान ही मेरा प्रधान केन्द्र है।

यहाँ पर जहाँ तक मेरे कार्य का सम्बन्ध है, वह लगभग शून्य के बराबर है। यद्यपि मेरा उद्देश्य अत्यन्त श्रेष्ठ था, किन्तु इन कारणों से वह एकदम निर्मूल एवं व्यर्थ सिद्ध हो चुका है।

भारत के जो समाचार मुझे मिल रहे हैं, उसका आधार एकमात्र मद्रास से प्राप्त पत्र ही हैं। तुम लोगों के पत्रों से मुझे यह समाचार बराबर मिल रहा है कि

भारत में सभी लोग मेरी बड़ी प्रशंसा कर रहे हैं। किन्तु यह तो हमारे और तुम्हारे बीच की आपसी बात है, क्योंकि आलासिंगा के भेजे हुए एक समाचार-पत्र के तीन मेरा इंच अंश को छोड़कर अन्य किसी भी भारतीय पत्र व मेरे बारे में कुछ भी प्रकाशित हुआ है, ऐसा मुझे देखने को नहीं मिला। दूसरी ओर मिशनरी लोग भारत के ईसाइयों के वक्तव्यों को मेहनत से संगृहीत कर नियमित रूप से प्रकाशित कर रहे हैं तथा घर-घर जाकर यह प्रयास कर रहे हैं, जिससे मेरे मित्र मुझे त्याग दें। वे अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल हो चुके हैं, क्योंकि भारत से मेरे लिए कोई भी व्यक्ति एक शब्द का भी उच्चारण नहीं कर रहा है। भारत की हिन्दू पत्रिकाएँ अत्यन्त बढ़ा-चढ़ाकर मेरी प्रशंसा कर सकती हैं, किन्तु उनकी एक भी बात अमेरिका नहीं पहुँची। इसलिए यहाँ के बहुत से लोग मुझे ठग समझ रहे हैं। एक तो मिशनरी लोग ही मेरे पीछे पड़े हुए हैं, साथ ही यहाँ के हिन्दू भी ईर्ष्या के कारण उनका साथ दे रहे हैं, ऐसी दशा में उनको जवाब देने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है। अब तो मेरी यह धारणा बनती जा रही है कि केवल मद्रास के कुछ एक छोकरों के आग्रह से धर्मसभा में योगदान करना मेरे लिए मूर्खता हुई, क्योंकि आखिर तो वे छोकरे ही हैं। हालाँकि मैं उन लोगों का चिर कृतज्ञ हूँ, किन्तु फिर भी वे कुछ उत्साही पर कार्यक्षमताविहीन युवक मात्र ही तो हैं। मैं अपने साथ कोई परिचय-पत्र नहीं लाया हूँ, अन्यथा मिशनरी तथा ब्राह्म समाजियों के सम्मुख मैं ठग नहीं हूँ, यह बात कैसे प्रमाणित की जा सकती है? मैंने सोचा था कि भारत के लिए कुछ एक वाक्यों का प्रयोग करना कोई

विशेष कठिन कार्य न होगा। मेरी धारणा थी कि मद्रास तथा कलकत्ते में कुछ भद्र पुरुषों की एक सभा आयोजित करना तथा उसमें मुझे तथा अमेरिकावासियों को मेरे प्रति किये गये सद्व्यवहार के लिए धन्यवादसूचक एक प्रस्ताव स्वीकृत कराकर, उसकी एक एक प्रतिलिपि औपचारिक ढंग से अर्थात् उन उन समाजों के मंत्रियों द्वारा अमेरिका में डा० बरोज़ के समीप भेजकर उनसे विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित कराने के लिए प्रार्थना करना तथा उसी प्रकार बोस्टन, न्यूयार्क तथा शिकागो की विभिन्न पत्रिकाओं में भेजना कोई विशेष कठिन कार्य न होगा। किन्तु अब मैं देख रहा हूँ कि भारत के लिए यह कार्य अत्यन्त कष्टसाध्य तथा कठिन है। एक वर्ष के अन्दर भारत से किसी ने मेरे लिए एक शब्द तक न कहा और यहाँ पर सभी लोग मेरे विपक्ष में हैं, क्योंकि तुम अपने घर में बैठकर मेरे बारे में चाहे जो भी कुछ क्यों न कहो, यहाँ उसे कौन जानता है? आलासिंगा को मैंने इस बारे में लिखा था। इस बात को दो महीने से भी अधिक समय हो गया, किन्तु उसने मेरे पत्र का जवाब तक नहीं दिया। मुझे ऐसी शंका है कि उसका उत्साह समाप्त हो चुका है। इसीलिए मैं तुमसे यह कहना चाहता हूँ कि पहले इस विषय में तुम स्वयं विचार-विमर्श कर लो और उसके बाद फिर मद्रासियों को यह पत्र दिखाना। इधर मेरे गुरुभाई लोग नासमझों की तरह कोई विशेष प्रमाण दिये बिना ही केशव सेन के बारे में नाना प्रकार की आलोचनाएँ कर रहे हैं और मद्रासी लोग भी, थियोसॉफिस्टों के बारे में मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, उसे उनके सामने रखकर शत्रुओं की संख्या ही बढ़ा रहे हैं। हाय, यदि भारत में कोई बुद्धिमान्

कार्यशील व्यक्ति मुझे सहायता करने को मिलता ! किन्तु प्रभु की इच्छा ही पूर्ण होगी—मैं तो इस देश में ठग ही साबित हुआ। यह मेरी मूर्खता हुई कि कोई परिचय-पत्र लिये विना मैं धर्मसभा में शामिल हो गया। आशा थी कि यहाँ बहुत मिल जाएँगे। किन्तु अब मुझे अकेला ही धीरे-धीरे कार्य करना पड़ेगा।

अमेरिकन लोग साधारणतया हिन्दुओं से लाखों-गुने अच्छे हैं और अकृतज्ञ तथा हृदयहीनों के देश की अपेक्षा यहाँ पर मैं कहीं अधिक कार्य कर सकता हूँ। आखिरकार कर्म के अनुष्ठान के द्वारा मुझे अपना प्रारब्ध-क्षय करना होगा। जहाँ तक मेरी आर्थिक स्थिति का सवाल है, वह ठीक है और ठीक ही रहेगी। पिछली मर्दुमशुमारी में थियोसॉफिस्टों की संख्या समग्र अमेरिका में ६२५ थी, उनके साथ सम्मिलित हो जाने से मुझे सहायता मिलनी तो दूर रही, क्षण भर में मेरा तमाम काम चौपट हो जाएगा। आलासिंगा ने मुझे लन्दन जाकर श्री ओल्ड के साथ भेंट करने के लिए लिखा है। मूर्ख की तरह वह क्या निरर्थक बातें बना रहा है! बालकों की तरह उस स्वयं यह पता नहीं है कि वह क्या कह रहा है। इन मद्रासी शिशुओं में किसी बात को अपने पेट में छिपाने तक का सामर्थ्य नहीं है! दिन भर व्यर्थ की बातें बनाते रहते हैं, और जब काम करने का समय आता है, तब कहीं किसी का भी पता नहीं चलता! पचास-साठ व्यक्तियों को एकत्र कर दो-चार सभाएँ करके अभी तक जो मेरी सहायता मात्र के लिए दो-चार फ़ालतू शब्द तक नहीं भिजवा सके, वे मूर्ख समस्त संसार को शिक्षा प्रदान करने की लम्बी-चौड़ी बातें हाँकते हैं!

मैंने तुमको फोनोग्राफ़ के बारे में लिखा था। यहाँ पर एक प्रकार का बिजली का पंखा है, जिसका मूल्य २० डालर है और वह बहुत अच्छी तरह से चलता है। उसकी बैटरी १०० घण्टे तक बराबर काम करती रहती है, उसके बाद किसी भी विद्युत्-यंत्र से उसे भरा जा सकता है।

विदा! मैंने हिन्दुओं को काफ़ी परख लिया है। अब जो कुछ प्रभु की इच्छा है, वही होगा। नतमस्तक होकर सब कुछ स्वीकार करने को मैं प्रस्तुत हूँ। मुझे अकृतज्ञ न समझना, मद्रासियों ने मेरे लिए जो कुछ किया है, मैं उसके योग्य नहीं था और उन्होंने अपनी शक्ति से अधिक मेरी सहायता की है। यह मेरी ही मूर्खता थी—क्षण भर के लिए भी मुझे यह ख्याल नहीं हुआ कि हम हिन्दू लोग अभी मनुष्यता हासिल नहीं कर पाये हैं और मैं अपनी आत्मनिर्भरता खोकर उन पर निर्भरशील हो चुका था—इसीलिए मुझे इतना कष्ट उठाना पड़ा। प्रतिक्षण मैं यही आशा लगाये बैठा था कि भारत से मुझे कुछ सहायता अवश्य मिलेगी। किन्तु वह कभी नहीं मिली। खासकर गत दो महीनों से प्रतिक्षण मेरी चिन्ता तथा यातना की कोई सीमा नहीं थी—भारत से एक समाचार-पत्र तक मुझे प्राप्त नहीं हुआ! मेरे मित्र महीनों तक प्रतीक्षा करते रहे—करते रहे—जब कुछ भी समाचार नहीं मिला—एक आवाज़ तक नहीं सुनाई दी—तब बहुतों का उत्साह भंग हो गया और उन लोगों ने मुझे त्याग दिया। मनुष्यों पर, पशुधर्मियों पर निर्भर रहने का यह दण्ड मुझे मिला—क्योंकि मेरे देशवासियों में अभी तक मनुष्यता का विकास नहीं हुआ है। अपनी प्रशंसा सुनने के लिए वे अत्यन्त उत्सुक रहते हैं, पर जब दूसरों

की सहायता के लिए कुछ कहने का अवसर आता है, तब उनको चुटिया तक का पता नहीं चलता।

मद्रासी युवकों को मैं अनन्त धन्यवाद देता हूँ––प्रभु उनका सदैव कल्याण करे। किसी मतवाद का प्रचार करने के लिए अमेरिका विश्व में सबसे उपयुक्त स्थान है, अतः शीघ्र अमेरिका छोड़ने का मेरा कोई इरादा नहीं है। और छोड़ा ही क्यों जाय ? यहाँ मुझे खाने तथा पहनने को मिल रहा है, अनेक व्यक्ति सदय व्यवहार कर रहे हैं, और यह सब मुझे दो-चार अच्छी बातें कहने के बदले में मिल रहा है। ऐसी सहृदय जाति को छोड़कर पशु-प्रकृति, बुद्धिहीन, अनन्त काल से कुसंस्कार में फँसे हुए, दयाहीन, ममतारहित भाग्यहीनों के देश में मैं क्यों जाने लगा ? अतः पुनः कहता हूँ कि विदा ! अच्छी तरह से विचार-विमर्श के बाद यदि चाहो, तो इस पत्र को दूसरों को दिखा सकते हो। मद्रासी लोगों ने, यहाँ तक कि आलासिंगा ने भी, जिस पर कि मैं इतनी आशा लगाये हुए था, बुद्धिमत्ता से काम लिया हो, यह नहीं कहा जा सकता। हाँ, क्या तुम मजूमदार के लिखे हुए रामकृष्ण परमहंस के संक्षिप्त जीवन-चरित्र की कुछ प्रतियाँ शिकागो भेज सकते हो ? कलकत्ते में वह पुस्तक बहुत है। ५४१, डियरबोर्न एवेन्यू (स्ट्रीट नहीं), शिकागो अथवा द्वारा टामस कुक, शिकागो, मेरे इन दोनों पतों को न भूलना––अन्य पते पर भेजने से बहुत विलम्ब तथा गड़बड़ी होगी, क्योंकि अब मैं बराबर भ्रमण कर रहा हूँ और शिकागो ही मेरा प्रधान केन्द्र है। किन्तु यह बात मेरे मद्रासी बन्धुओं के दिमाग़ में नहीं समायी। कृपया जी०जी०, आलासिंगा, सेक्रेटरी तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों से मेरा चिर आशीर्वाद कहना,

मैं उन लोगों की मंगल-कामना कर रहा हूँ। उन पर मैं बिल्कुल असन्तुष्ट नहीं हूँ, मुझे अपने पर ही असन्तोष है। अपने जीवन में मेरे लिए यह पहला मौका है कि मैंने दूसरों की सहायता पर निर्भर रहने की भयानक भूल की और उसी का फल मैं भुगत रहा हूँ। यह दोष मेरा ही है, उन लोगों का नहीं। प्रभु मद्रासियों का कल्याण करे। उनका हृदय बंगालियों की अपेक्षा अधिक उन्नत है। बंगाली तो निरे मूर्ख हैं, उनके पास न कोई हृदय है, न ही कोई दृढ़ता। विदा! विदा! समुद्र के वक्षस्थल पर मैं अपनी नाव छोड़ चुका हूँ--जो कुछ होना हो, होने दो। मेरी कठोर आलोचना के लिए मुझे क्षमा करना। वास्तव में किसी पर मेरा कोई दावा नहीं है। मुझे जितना मिलना चाहिए था, उससे कहीं अधिक तुम लोगों ने मेरे लिए किया है। जैसा मेरा भाग्य है, उसके अनुसार ही मुझे फल मिलेगा, बाकी सब कुछ मुझे चुपचाप सहन करना ही पड़ेगा। प्रभु तुम सब लोगों का मंगल करे।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च:--शायद आलासिंगा के कालेज की छुट्टी हो गयी होगी, किन्तु मुझे उसका कोई भी समाचार नहीं मिला और अपने घर का पता भी उसने मुझे नहीं लिखा है। वि०

मुझे आशंका है कि किडी ने सब छोड़छाड़ दिया है। वि०

०

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

पचीसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहित सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

ॐकार और जगत् की अभिव्यक्ति

दक्षिणेश्वर में ठाकुर महिमा आदि भक्तों के साथ ॐकार और नित्यलीला' प्रसंग पर चर्चा कर रहे हैं। महिमाचरण से कहते हैं, "ॐकार की व्याख्या में तुम लोग बस यही कहते हो—अ-कार, उ-कार, म-कार।" ठाकुर ॐकार की व्याख्या अपने अनुभूतिलब्ध ज्ञान से करते हैं। घण्टा का टंकार—टं-अ-अ-म-म्। चारों ओर निस्तब्धता है, 'ट' की एक ध्वनि हुई, उसके बाद धीरे होते होते वह शान्त हो गयी। ठाकुर उपमा देते हुए कहते हैं—जैसे समुद्र में एक भारी वस्तु के गिरने से उसमें तरंगें उठने लगीं, फिर वे तरंगें धीरे धीरे समुद्र में मिल गयीं। घण्टा के 'ट' रव के समान एक तरंग आरम्भ हुई, कुछ देर तक तरंग चलती रही, फिर निस्तरंग अवस्था में लौट आयी। ठाकुर कहते हैं, "नित्य से लीला आरम्भ हुई, महाकारण से स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर दिखाई दिये—इस तुरीय से

ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाएँ निकल आयीं। फिर महासमुद्र की लहरें महासमुद्र में ही लीन हो गयीं।"

नित्य को पकड़कर लीला में और लीला को पकड़कर नित्य में—इस बात को ठाकुर अत्यन्त स्पष्ट, हृदयग्राही, बोधगम्य रूप में हम लोगों के सामने रख रहे हैं। जगत् का जब आरम्भ हुआ, तब मानो वहाँ घण्टा के 'टंकार' के समान एक तरंग उठी। थोड़ी देर वह तरंग प्रवाहित हुई और पुनः निस्तरंग अवस्था में लौट आयी। उस नित्य तुरीय से जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाएँ मानो एक एक करके आती हैं, तथा उस तुरीय में ही फिर से लौट जाती हैं। समुद्र की तरंग का विलय समुद्र में ही होता है। ठाकुर कहते हैं, "मैं 'ट' शब्द की उपमा देता हूँ। मैंने ठीक यह सब देखा है।. . .तुम लोगों की किताब में क्या है, वह सब मैं नहीं जानता।"

ऐसा नहीं कि यह बात शास्त्र में नहीं है। शास्त्र में कहा गया है कि जब जगत् की सृष्टि होती है, तब मानो पहले एक ध्वनि की अभिव्यक्ति होती है। पर तब भी किसी वर्ण की सृष्टि नहीं होती है। इसे ही 'ॐकार' कहा गया है। इस ॐकार से क्रमशः वर्ण अलग अलग रूप धारण कर अ-उ-म् होकर आता है। यह वर्णमाला मानो सृष्टि का आदि उपकरण है, अर्थात् जगत् का सूक्ष्म रूप है, जिसके भीतर से धीरे धीरे इस वैचित्र्यमय जगत् की, नाम-रूप की सृष्टि हुई है। नाम-रूप से संक्षेप में समग्र जगत् को ही समझना चाहिए। ब्रह्म के मन में जगत्-सृष्टि की इच्छा हुई। उसने सोचा, नाम-रूप के माध्यम से समस्त जगत् को प्रकाशित करूँगा। इस प्रकार नाम-रूप से समग्र जगत् का आविर्भाव हुआ। 'ॐकार' उस नाम की ही सूक्ष्म

अभिव्यक्ति है। महासमुद्र की शान्त जलराशि पर एक वस्तु के गिरने से तरग उठी। वह जलराशि चारों ओर फैल गयी, फिर धीरे धीरे महासमुद्र में मिल गयी। इसी प्रकार कारण-समुद्ररूपी ब्रह्म के मन में जगत् की सृष्टि की इच्छा उत्पन्न हुई; यह इच्छा ही समुद्र मे गिरने-वाली मानो भारी वस्तु हुई, परिणामतः नाम-रूप-तरंग की सृष्टि हुई। कारण-समुद्र की जो तरग है, वही नाम-रूप में अभिव्यक्त यह जगत् है। यह विश्व-ब्रह्माण्ड ब्रह्म-समुद्र से उत्पन्न होकर उसी के भीतर लीन हो गया। लीला से नित्य, नित्य से लीला—यही समझाने के लिए ठाकुर यह उपमा दे रहे हैं।

नित्य और लीला

यह जो जगत् हम देखते हैं, वह नित्यस्वरूप ब्रह्म से आया है। नित्य से लीला आयी है। वह इस जगत् के रूप में लीला करता है। विश्व-ब्रह्माण्ड के रूप में वह मानो विभाजित हो गया है, स्वयं को अनेक रूपों में विभक्त करके खेल रहा है। खेल के पूरा हो जाने पर वह जगत् को अपने में मिला लेगा। समुद्र का दृष्टान्त बहुत सुन्दर है। समुद्र अर्थात् कारण-समुद्र; कारण वह है, जहाँ से जगत् की उत्पत्ति हो। उस कारण वारिरूप में भगवान् अनन्त शय्या पर लेटे हुए हैं, अर्थात् अनन्त के साथ एक हो गये हैं। भगवान् की इच्छा हुई कि वे सृष्ट होंगे अर्थात् जगत् की सृष्टि करेंगे। वे सत् हुए, वे ही स्थूल, सूक्ष्म, कार्य और कारण हुए—'स सच्च तच्च अभवत्'। यह जगत् ब्रह्म का नामरूप-विशिष्ट स्वरूप है, और यह नाम-रूप उससे भिन्न नहीं है, क्योंकि किसी बाहरी उपादान से इसकी सृष्टि नहीं हुई है। उसने स्वयं को अनेक रूपों में विभक्त किया

है । ऐसा न होने से जगत् की सृष्टि सम्भव न होती । नाम-रूप को उसी ने प्रकाशित किया है, तथा खेल समाप्त होने पर उसे अपने भीतर खींच लेता है । 'संहार' का अर्थ है--उसका अपने भीतर ले लेना । ऊर्णनाभ यानी मकड़ी के दृष्टान्त द्वारा जगत् की सृष्टि और संहार को समझाया गया है--'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' (मुण्डकोपनिषद्, १।१।७)। जैसे मकड़ी अपने शरीर से जाला उत्पन्न करती है तथा पुनः उसे अपने भीतर समेट लेती है, उसी प्रकार भगवान् स्वयं को जगत् के रूप में प्रकाशित करके पुनः उस जगत् को अपने भीतर समेट लेते हैं । जैसे कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है और वह घड़ा फूटने पर मिट्टी के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार वे स्वयं जगत् के उपादान कारण हैं, उन्हीं से जगत् की सृष्टि होती है एवं उन्हीं में उसकी परिसमाप्ति भी । उपादान-कारण तथा निमित्त-कारण—दोनों वे ही हैं । यदि वे चैतन्य न होते तो इस सृष्टि में जो सुन्दर योजना दिखाई देती है, एक 'प्लान' दृष्टिगोचर होता है, वह कहाँ से होता ? जड़वस्तु मस्तिष्क का काम नहीं कर सकती । चैतन्य का संयोग न होने से जड़वस्तु जगत् के रूप में परिणत नहीं हो सकती । ईश्वर के लिए कहा गया है—'कारणं कारणानाम्'--स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीन अलग अलग अवस्थाओं के कारण भी वे ही हैं । 'एतदात्म्यम् इदं सर्वम्'—वे ही समस्त जगत् हैं । नित्य न हो तो लीला कहाँ से आएगी और लौटकर कहाँ जाएगी ? रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श के द्वारा जगत् हमें अपने अस्तित्व का स्मरण दिलाता है । जगत् के आदि को तो मैंने नहीं देखा, लेकिन उसके भीतर से उसकी परिवर्तन-

शीलता की उपलब्धि करता हूँ । तब प्रश्न उठता है कि क्या यह परिवर्तनशील जगत् अनादि है ? जगत् की प्रत्येक वस्तु यह बता दे रही है कि जो परिवर्तनशील है, उसका आदि है, अन्त है । जगत् अगर परिवर्तनशील है, तो उसका आदि-अन्त है । आदि की कल्पना करते समय लीला को पकड़कर नित्य में जाना होता है । भागवत में, उपनिषद् में वर्णन आता है—स्थूल क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता हुआ कारण में परिवर्तित होता है और अन्त में सब एक महाकारण में लीन हो जाता है ।

हमारी पंचेन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये जो विषय हैं वे आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी, इन पंच सूक्ष्मभूतों की तन्मात्राओं से निकले हैं । ये पंचतत्त्व पृथ्वी से शुरू होकर क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हुए सूक्ष्मतर में विलीन होते जाते हैं और अन्त में आकाश बच रहता है । अब भले ही इन सबमें आकाश ही सबसे सूक्ष्म है, पर इस आकाश की भी उत्पत्ति और लय है । वह अव्यक्त से उपजता है और उसी में लय को प्राप्त करता है । 'अव्यक्त' माने अनभिव्यक्त । गीता-भाष्य की उपक्रमणिका में शंकराचार्य ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसम्भवम् ।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ॥

—नारायण हैं परमतत्त्व । उनसे जगत्-कारण 'अव्यक्त' निकला है । उस परमकारण अव्यक्त से ब्रह्माण्ड का अण्डरूप निकला है । विभिन्न रूपों में उसकी अभिव्यक्ति अभी हुई नहीं है, फिर भी समस्त अभिव्यक्ति की सम्भावना उसमें है, जैसे अण्डे के भीतर जीव संकुचित या अव्यक्त

भाव में रहता है। इस ब्रह्माण्ड के भीतर सप्तद्वीपा पृथ्वी है, सारा जगत् है। कठोपनिषद् में (१।३।१०-११) आता है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः॥

—अर्थ या सूक्ष्म भूत इन्द्रियसमूह से 'पर' या व्यापक होता है। सूक्ष्म भूत से इन्द्रियाँ सृष्ट हुई हैं। विषय इन्द्रियों को अनुभूति प्रदान करते हैं, अतः विषय इन्द्रियों से श्रेष्ठ तथा सूक्ष्मतर हैं। 'अर्थेभ्यश्च परं मनः'—मन इस सूक्ष्म भूत की अपेक्षा व्यापक है। इसी तरह मन से सूक्ष्म है बुद्धि, बुद्धि से महान् है आत्मा। जगत् के सूक्ष्मकारण-रूप को 'महत्' कहा गया है, इसलिए महान् है। 'महतः परम् अव्यक्तम्'—महत् से भी परे है 'अव्यक्त'। 'अव्यक्तात् पुरुषः परः'—अव्यक्त से पुरुष श्रेष्ठ है। पुरुष कहते हैं ब्रह्म को। 'पुरुषात् न परं किंचित्'—पुरुष से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। 'सा काष्ठा सा परा गतिः'—वह पुरुष ही परमतत्त्व है, चरम लक्ष्य है। इस प्रकार लीला से नित्य में पहुँचना हुआ।

इसका विपरीत क्रम है—नित्य से लीला। उपनिषद् में कहा गया है—आत्मा से आकाश तथा उससे क्रमशः वायु, तेज, जल और पृथ्वी तत्त्व निकला है। क्रमशः सूक्ष्म से स्थूलत्व प्राप्त होता है। नित्य से लीला, लीला से नित्य—ठाकुर इसे अनुलोम-विलोम कहते हैं। लीला के भीतर हम अनेकशः विभक्त जगत् में रहते हैं। कारण में पहुँचने के लिए स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से कारण और

कारण से महाकारण में जाना होगा। मानो ये साँकल की विभिन्न कड़ियाँ हैं, जिन्हें पकड़ते हुए हमें मूल तक पहुँचना होगा। इसीलिए शास्त्रों में इतने प्रकार से जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन किया गया है। 'माण्डूक्यकारिका' में मृत्तिका का तथा उपनिषद् में लोहा-अग्नि आदि का दृष्टान्त देते हुए सृष्टि की बात को तरह तरह से बताया गया है। ये सब लक्ष्य तक पहुँचने के उपाय हैं। इससे हम सृष्टि के क्रम पर विचार करके, उसके विपरीत क्रम से बढ़ते हुए उस परमकारण में पहुँच सकते हैं। वास्तव में तात्त्विक दृष्टि से देखने पर 'सृष्टि' नाम की कोई भी वस्तु नहीं रह जाती, फिर भी उस सत्य तक पहुँचने के लिए शास्त्रों ने इन सबका अवलम्बन लिया है।

'सृष्टि' माने किसकी सृष्टि ? जिस सृष्टि को हम अनेक रूपों में विभक्त देखते हैं, वह यदि तत्त्व की अनेक विभक्ति होती, तब तो उसका कारण खोजने पर भी नहीं मिलता, क्योंकि जो वस्तु सगुण है, वह निर्गुण में नहीं पहुँच सकती; तथा जो निर्गुण है, वह स्वयं को सगुण नहीं बना सकती। निर्विशेष न तो सविशेष हो सकता है और न सविशेष निर्विशेष ही। ये परस्पर-विपरीतधर्मी वस्तुएं हैं, परस्पर विरोधी हैं, इसलिए इन सबको 'मिथ्या' कहा गया है। 'मिथ्या' माने वह जिसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् में (६।१।४) कहा गया है—"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।" मिट्टी के एक ढेले को जान लेने पर मिट्टी से बनी हुई सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि मिट्टी के विभिन्न रूप मिट्टी को छोड़कर और कुछ भी नहीं हैं। ये सब

रूपान्तरित विकार केवल शब्दात्मक या वागाडम्बर हैं, ये नाम मात्र हैं, इनकी पृथक् सत्ता कुछ भी नहीं है। अतः मिट्टी ही सत्य है, मिट्टी की बनी हुई वस्तुएँ मिट्टी का ही विकार हैं। कारण ही सत्य है और कार्य मिथ्या। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या। वह एक होकर भी स्वयं को अनेक रूपों में दिखा सकता है, इसमें दोष नहीं है। वेदान्त यह कभी नहीं कहता कि वह अनेक है। यदि वह सचमुच अनेक हो सकता, तब तो उसके नित्यत्व की हानि होती। वह नित्य होते हुए भी अनेक रूपों में प्रकाशित है, अतः यह वैचित्र्यमय प्रकाश मिथ्या है। जो जगत् का एकमात्र कारण है, वह सत्य है। जगत् की अन्य सभी वस्तुएँ उसका विकार मात्र हैं। नाम-रूप उससे अभिन्न हैं, अतः इस जगत् का पर्यवसान ब्रह्म में जानना होगा। इस जगत् को ब्रह्म में लीन कर सकने पर मनुष्य नाम-रूप के इस सम्बन्ध से मुक्त हो सकेगा। जब तक नाम-रूप से अतीत नहीं हुआ जाता है, तब तक जन्म-मृत्यु की परम्परा से हमारा बचाव नहीं है।

तत्त्व-जिज्ञासु और वैज्ञानिक की दृष्टि

सृष्टि के बारे में जानकर हमें क्या लाभ? हम कोई विज्ञान की तरह सृष्टितत्त्व के ज्ञान के द्वारा संसार को काम में लगाने का कौशल तो जानते हैं नहीं। साधक सृष्टि का कारण जो जानना चाहता है, वह भोग के उपकरणों का आविष्कार करने के लिए नहीं। वैज्ञानिक तो जगत् को जानकर कौशल से भोग के उपकरणों का निर्माण करना चाहता है, और ज्ञानी जगत् के पीछे निहित उस मूल तत्त्व को जानना चाहता है, जिसे पकड़कर नित्य में अधिष्ठित हुआ जा सके। ठाकुर कहते हैं, लीला को पकड़-

कर नित्य में पहुँचना । नित्य ही सत्य है, लीला भ्रम मात्र है । लीला का चित्र-विचित्र रूप चाहे जितना मनोरम हो, पर नित्य को छोड़कर उसकी सत्ता नहीं है । मिट्टी जितना भी विकार को प्राप्त हो , पर असल में वह मिट्टी ही है । ज्ञानी कहता है कि विविध वस्तुओं को जानने की क्या आवश्यकता है ? वस्तुएँ यदि सत्य होतीं, तो जानने की सार्थकता भी थी। हमारे मन के कल्पना-लोक में न जाने कितने प्रकार के आकाशकुसुम भासित होते हैं, पर उनके तत्त्व-विश्लेषण के द्वारा हम विचार करने की चेष्टा नहीं करते । इसी प्रकार ज्ञानी की दृष्टि में यह जगत् आकाशकुसुम के समान मिथ्या कल्पना मात्र है, इसका कोई अस्तित्व नहीं है । मिट्टी से बनी हुई वस्तुओं की मिट्टी के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है; यदि रहती तो मिट्टी के संश्लिष्ट रूप को छोड़ अन्य रूप में भी उसे हम देख पाते, पर ऐसा तो दिखाई नहीं देता । उसी तरह इस जगत् में ब्रह्म के अनेकत्व का जो प्रकाश है, वह सब तत्त्वतः ब्रह्म ही है । अतएव ब्रह्म को जान लेने पर उससे प्रकाशित होनेवाली मिथ्यारूप वस्तुओं को जानने की क्या आवश्यकता है ? मिथ्या वस्तुओं को जानने से मिथ्या ज्ञान होता है, वह कभी भी हमारा कल्याण नहीं कर सकता । मोक्षलाभ तो सत्य के ज्ञान के द्वारा ही होता है ।

मृत्तिका के अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद् में (६।१।६) नहरनी का भी दृष्टान्त दिया गया है । "यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवं सोम्य स आदेशो भवतीति ।"—अर्थात् एक नहरनी को यदि लोहे की बनी माने तो लोहे से बनी सभी वस्तुओं का जानना

हो जाता है; विकार तो शब्दात्मक है, नाममात्र है—लोहा ही सत्य है, अन्य वस्तुएँ केवल उसका रूपान्तर हैं। वैज्ञानिक कहता है कि मिट्टी के जो विभिन्न आकार हमारे अनुभव में आते हैं, उन सबको मिथ्या नहीं कह सकते। दार्शनिक कहता है कि यदि मिट्टी को छोड़कर उन सबकी अलग से सत्ता होती तो मिट्टी को छोड़कर भी वे दिखाई देतीं, लेकिन वे दिखाई नहीं देती हैं—'तत्सत्ते तत्सत्ता तदभावे तदभावः।'

एक और उपमा के द्वारा विषय अधिक स्पष्ट होगा। रस्सी के रहने से साँप दिखाई देता है, रस्सी न रहे तो साँप दिखाई नहीं देता। रस्सी सब समय है, इसलिए सत्य है; साँप कभी दिखाई देता है, कभी नहीं। रस्सी के रूप में आधार न हो तो भ्रम नहीं होता। जो भ्रम का अधिष्ठान है, वही सत्य है। जो इस जगत् का उपादान है और जो उपादान विकार से भिन्न है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो, तुम्हीं वह आत्मा हो—'तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छान्दोग्योपनिषद्, ६।८।७)। यदि आत्मा मुझसे भिन्न होती तो उसे जानने से ज्ञान का भण्डार थोड़ा बढ़ता अवश्य, परन्तु उससे जन्म-मृत्यु का बन्धन छिन्न न होता। 'तत्त्वमसि' (तुम ही वह हो) कहने का अर्थ है—वह ब्रह्म विभिन्न रूपों में प्रतीत होने पर भी एकमात्र नित्य वस्तु वही है। तुम्हें जो सब परिवर्तन दिखाई दे रहा है, उस सबके पीछे निहित सत्ता निर्विकार है, निर्विशेष है, एक, नित्य और सत्य है। इस प्रकार आत्मा को जान लेने पर दुःख का और कोई कारण नहीं रह जाता। तभी तो श्रुति कहती है (बृह० उप०, ४।४।१२)—

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत् ।।

—आत्मा को इस स्वरूप में यदि कोई जान ले तो वह सब बन्धन से अतीत हो जाता है । यदि वह आत्मा ही सत्य हो और यदि उसके स्वरूप को वह जान ले सके तो फिर वह किसकी चाह करता हुआ, किस प्रयोजन से शरीर के समस्त दुःखों का भोग करेगा ? शास्त्र में सृष्टि के आदि की जो व्याख्या की गयी है, उसका यही उद्देश्य है ।

लीला की सार्थकता

यहाँ प्रश्न उठता है कि भगवान् की इस लीला का प्रयोजन क्या है ? उन्होंने इस जगत् की सृष्टि क्यों की ? उत्तर यह है कि यदि वे जगत् की सृष्टि न करते, तो उस जगत्-कारण को हम खोज नहीं पाते । जगत्-कार्य को देख पा रहे हैं, इसलिए उसे पकड़कर जगत्-कारण तक पहुँच सकते हैं । अपने स्वरूप को खोज निकालने के लिए यह सृष्टि है । आँखों पर पट्टी बाँध दी गयी है और एक हण्डी रख दी गयी है । आँखों पर पट्टी बाँधे हुए ही उस हण्डी को खोजकर लाठी से उसे फोड़ना होगा । हण्डी के फूटते ही खेल खत्म हो जाएगा और तब आँखों की पट्टी खोल दी जाएगी । हम भी इस जगत् में सत्य को खोजते हुए मानो अन्धे की तरह लाठी के सहारे उस हण्डी को खोजते चले जा रहे हैं, पर हण्डी मिल नहीं रही है । कई बार लाठी घुमायी पर लगी नहीं, कहीं और जा लगी । न जाने कब से यह क्रम चला आ रहा है । इसी बीच किसी ने मानो हमें इशारा कर दिया, हाथ पकड़कर दिखा दिया और कहा, 'इधर आओ' । और तब शायद लाठी हण्डी पर पड़ गयी । अब हुई हमारी छुट्टी ! ठीक इसी

प्रकार हम कर्म के अरण्य में भटक रहे हैं। इस तरह भटकते हुए कारण तक पहुँच सकने में यह जगत् हमारी कुछ सहायता करेगा, अन्यथा किसे पकड़कर हम कारण तक पहुँचेंगे ?

कई बार लोगों के मन में यह प्रश्न उठता है कि इस तरह आँखों पर पट्टी बाँधकर भटकने की क्या आवश्यकता है ? आवश्यकता क्या है, यह तो हम नहीं जानते, केवल यह जानते हैं कि उसके पार जाने का उपाय है। इसीलिए प्रारम्भ में क्या हुआ, क्यों जगत् की सृष्टि हुई, इन प्रश्नों से हम लोगों का कोई हित नहीं होगा। जगत् हमें एक घेरे में डालकर खेल खेलता है। उस घेरे से बाहर होने का उपाय जानना होगा। शास्त्र कहते हैं कि इसका उपाय है 'लीला'। जगत् लीला को पकड़कर नित्य में पहुँचने का उपाय बता देता है। परमज्ञान की उत्पत्ति के लिए यह उपाय है। जगत् का वर्णन इसलिए किया गया है जिससे उस तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति हो। वेदान्त में कहीं पर पंचभूत की उत्पत्ति की बात कही गयी है, तो कहीं पर अग्नि, जल और अन्न की सृष्टि की बात। व्याख्याकार आचार्य शंकर कहते हैं कि सृष्टि चाहे तीन हो, चाहे पाँच, चाहे तीन सौ, इससे कुछ आता-जाता नहीं। हमें जो जानना होगा, वह है मूलतत्त्व, मूलस्वरूप। और यह जानना ही हम लोगों को इस भूलभुलैया से बाहर निकलने का रास्ता दिखा देगा।

○

रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन में श्री माँ सारदा की भूमिका

स्वामी आत्मानन्द

(रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी द्वारा आयोजित श्रीरामकृष्ण देव के १५०वें आविर्भाव महोत्सव तथा रामकृष्ण संघ के शताब्दी-उत्सव के अवसर पर दिया गया व्याख्यान।—स०)

अभी हम सभी ने श्री अमिय कुमार वन्द्योपाध्याय का बड़ा भावपूर्ण भाषण सुना है। उन्होंने माँ के जीवन की दो घटनाओं का उल्लेख किया है। मैं भी इन दोनों घटनाओं को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। पहली घटना वह है, जहाँ दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण षोड़शी के रूप में श्री माँ की पूजा करते हैं। तब माँ समाधिस्थ हो जाती हैं और पूजक श्रीरामकृष्ण भी। तदनन्तर वे अपनी साधना से लब्ध समस्त उपलब्धि, जप की माला के साथ, माँ के चरणों में सौंपकर उन्हें प्रणाम करते हैं। उस समय, मैं ऐसा मानता हूँ, माँ वरदा हो जाती हैं और श्रीरामकृष्ण को उनकी जगत्-उद्धार की कामना की सिद्धि के लिए आशीर्वाद प्रदान करती हैं। हमारी ऐसी मान्यता है कि भाव के क्षेत्र में रामकृष्ण संघ का जो सूत्रपात श्रीरामकृष्ण के मनोजगत् में हुआ होगा, वह मानो यहीं से रूप लेना शुरू करता है और माँ सारदा उसके रूपायित होने का वरदान देती हैं। यह भाव-जगत् की घटना है। दूसरी घटना भौतिक जगत् की है। एक रात्रि जब श्रीरामकृष्ण के एक शिष्य ने उनके द्वारा निर्धारित संख्या से अधिक रोटियाँ खा लीं, तो उन्होंने उसे फटकारते हुए कहा, "यदि इतनी रोटियाँ खाएगा तो साधना किस प्रकार करेगा ?"

इस पर शिष्य बोला, "मैं क्या करूँ, माँ ने जबरदस्ती मुझे खिला दीं!" तब श्रीरामकृष्ण ने माँ के पास जाकर शिकायत के स्वर में कहा था, "तुमने उसे अधिक रोटियाँ खिलाकर अच्छा नहीं किया, उससे उसकी साधना में विघ्न उपस्थित होगा।" माँ इसके उत्तर में बोली थीं, "वह तुम्हें सोचने की आवश्यकता नहीं, उसका भार मैं लेती हूँ।" इन वचनों के माध्यम से माँ स्वयं अप्रत्यक्ष रूप से मानो रामकृष्ण संघ का भार ग्रहण कर रही हैं। मेरे मतानुसार ये दो घटनाएँ ऐसी हैं, जो संकेत करती हैं कि रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन माँ के स्नेह से पालित और पुष्ट हुआ है। जब तक वे भौतिक शरीर में विद्यमान थीं, वे सतत उसका संरक्षण करती रहीं, और अब भले ही उन्होंने अपने भौतिक शरीर का त्याग कर दिया है तथापि सूक्ष्म देह में रहते हुए वे पहले की ही भाँति उसका परि-पालन और संरक्षण करती आ रही हैं।

प्रश्न उठता है कि यह रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन क्या है, जिसका पोषण और संरक्षण माँ ने किया? रामकृष्ण-भाव की विशेषता क्या है, जिसके आधार पर रामकृष्ण संघ खड़ा है? उत्तर में हम कह सकते हैं कि यह रामकृष्ण-भाव चार स्तम्भों पर खड़ा है। पहला स्तम्भ है—ईश्वर की अपरोक्ष अनुभूति। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "कसम खाकर कहता हूँ मैं ईश्वर छोड़ और कुछ नहीं जानता!" उनके लिए ईश्वर के बिना सब कुछ बेमानी था। दूसरा स्तम्भ है—उस ईश्वर को सबके भीतर देखना। एक बार श्रीरामकृष्ण आँखें बन्द करके ईश्वर का ध्यान कर रहे थे। सहसा बोल उठे, "क्या आँखें बन्द करने से ही ईश्वर दिखाई देता है, आँखें खोलने पर नहीं?" और ऐसा कह

उन्होंने आँखें खोल दीं। बोले, "मैंने आँखें खोलकर देखा, जो ईश्वर आँखें बन्द करने पर दिखाई दे रहा था, वही आँखें खोलने पर भी दिख रहा है। जो भीतर दिखाई दे रहा था, वही बाहर दिख रहा है—सबमें और सब जगह उसी की सत्ता दिखाई दे रही है।" यह ईश्वर की व्याप्ति का वर्णन है। जिसकी उन्होंने आँखें बन्द कर अपरोक्ष अनुभूति की थी, वही आँखें खोलने पर सर्वत्र दिखाई दे रहा है। इसी के आधार पर उन्होंने 'शिवज्ञान से जीव-सेवा' का मंत्र प्रदान किया। तीसरा स्तम्भ है—किसी प्रकार जाति या धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं करना। श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "भक्तों की कोई जात नहीं होती।" अर्थात् भक्तों की एक ही जाति होती है और वह है 'भक्त'। चौथा स्तम्भ है—उन्होंने कभी पापी से घृणा नहीं की। घृणा का पात्र तो पाप है, पापी नहीं। श्री माँ ने अपने जीवन के माध्यम से रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन के इन चारों स्तम्भों को और भी परिपुष्ट किया। हम यहाँ पर यही बतलाने का प्रयास करेंगे कि उनका जीवन रामकृष्ण-भाव की व्याख्यास्वरूप था।

हम जानते हैं कि बुद्धगया में साधुओं के निवास-भोजन आदि की उत्तम व्यवस्था देख उन्होंने किस प्रकार रो-रोकर श्रीरामकृष्ण से प्रार्थना की थी—"ठाकुर, तुम लड़कों के लिए कुछ ऐसा स्थान बना दो, जैसा यहाँ बना है। तुम्हारे लड़के दर-दर भटककर भिक्षा माँगते रहें यह ठीक नहीं है।" आज हम जिस सुख-सुविधा का भोग कर रहे हैं, वह माँ की उसी प्रार्थना का ही तो फल है।

फिर, एक दूसरी दृष्टि से देखें तो माँ कौन हैं?—साक्षात् ठाकुर ही। शरीर दोनों के अवश्य भिन्न हैं, पर

भाव की दृष्टि से दोनों में कहीं पर कोई पार्थक्य नहीं। अतएव रामकृष्ण-भाव जो है, वही सारदा-भाव भी है। श्रीरामकृष्ण माँ का परिचय देते हुए कहते हैं, "वह मेरी शक्ति है।" शक्ति और शक्तिमान् तो अलग नहीं होते। श्रीरामकृष्ण के शब्दों में, शक्ति और शक्तिमान् अग्नि और उसकी दाहिकाशक्ति के समान अभिन्न हैं। तो, जब श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि वह मेरी शक्ति है, इसका अर्थ यह है कि सारदा श्रीरामकृष्ण से अलग नहीं हैं—वही हैं। फिर, माँ ने भी तो कुछ ऐसा ही इंगित किया था। स्वामी विरजानन्दजी, रामकृष्ण संघ के छठे महाध्यक्ष, उनके मंत्र-शिष्य थे। एक बार वे माँ के दर्शन करने 'मायेर वाड़ी' (उद्बोधन) गये। माँ को प्रणाम किया। माँ उस समय तरकारी काट रही थीं। विरजानन्दजी पीछे की ओर खड़े थे, माँ की पीठ उनकी ओर थी। वे अनुयोग के स्वर में कहने लगे, "माँ, जीवन में एक दुःख बना रह गया!"

"तुम्हें दुःख किस बात का रह गया, बेटा?"—माँ का स्नेहभरा प्रश्न था।

"माँ, चाहता तो ठाकुर के दर्शन कर सकता था, यह दुःख रह गया।"

और सचमुच यदि विरजानन्दजी चाहते तो ठाकुर के दर्शन कर सकते थे, क्योंकि सन् १८८६ में जब श्रीरामकृष्ण महासमाधि में लीन हुए, तब उनकी वय १३ वर्ष की थी। अतः उनके मन में यह दुःख बना हुआ था कि वे सम्भव होते हुए भी ठाकुर के दर्शन न कर पाये। माँ ने उनके कथन के उत्तर में कहा, "क्यों बेटा, तुम उनको देख तो रहे हो, फिर दुःख कैसा?" विरजानन्दजी माँ का

आशय पकड़ न पाये, पुनः कहा, "नहीं माँ, उनको न देख पाने का दुःख बना ही रह गया।" माँ ने फिर से वही बात कही, पर इस बार भी वे माँ का मन्तव्य नहीं समझ सके और तीसरी बार उसी बात को दुहराया। तब माँ ने उनकी ओर अपना मुँह घुमाया और उनकी आँखों में आँखें डालकर बोलीं, "उनको देख तो रहे हो, बेटा!" तत्क्षण विरजानन्दजी की शिराओं में बिजली कौंध गयी। माँ ने अपनी बात समझा दी! माँ साक्षात् ठाकुर ही हैं यह अपने अन्तरंग का परिचय करा दिया।

श्रीरामकृष्ण ने अपने भानजे और सेवक हृदयराम को सावधान कर दिया था कि वह अपनी मामी के साथ सज्जनता से पेश आए। हृदयराम अपनी मामी से कभी-कभी दुर्व्यवहार कर बैठता। श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "देख रे हृदू, तू मुझे चाहे जो कह सकता है, तेरी रक्षा हो सकती है, पर यदि तूने उसे कुछ कहा, और उसके भीतर जो है वह यदि एक बार फन उठाकर फुफकारे, तो ब्रह्मा-विष्णु-महेश किसी में ताकत नहीं जो तेरी रक्षा कर सके!" यह श्रीरामकृष्ण द्वारा अपनी शक्ति का परिचय कराना है। और माँ ने, अवगुण्ठन में ढकी माँ ने, अपना परिचय किस प्रकार दिया था?

एक साधु उन्हें प्रणाम करने 'मायेर बाड़ी' आये। माँ भीतर व्यस्त थीं। वे तो ऊपरी दृष्टि से सामान्या थीं। मिलने आयी हुई महिलाओं के साथ भीतर में लौकिक चर्चा कर रही थीं। साधु को कुछ देर बैठना पड़ा। माँ जब बाहर आकर दर्शन देने तैयार होकर बैठीं तो साधु को बुलाया गया। वे देखते हैं कि माँ का सारा शरीर सिर से पैर तक ढका है, केवल दो चरण दिखाई दे रहे हैं। साधु

खीजे हुए बैठे थे। भीतर चलनेवाली सांसारिक चर्चा भी उनके कानों में गयी थी। उनसे रहा नहीं गया, बोल ही पड़े, "देखता हूँ आप बहुत माया में लिपटी हैं!" माँ ने धीमे स्वर में उत्तर दिया, "क्या करूँ, बेटे! मैं माया जो हूँ!" पता नहीं साधु यह बात पकड़ पाये या नहीं, पर इसे पकड़ा सेविका ने। कितने सहज भाव से यह माँ के द्वारा अपने स्वरूप का उद्घाटन था। वे माया थीं, आदि-शक्ति थीं। 'श्रीरामचरितमानस' में साक्षात् जगन्नियन्ता ईश्वर मनु और शतरूपा से अपनी शक्ति का परिचय कराते हुए कहते हैं—

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ।।१/१५१/४

—'यह आदिशक्ति है,मेरी माया है, जिसने जगत् को उत्पन्न किया है; यह भी (मेरे साथ)अवतार लेगी।' सो, वे त्रेता-युग में राम और सीता के रूप से अवतरित होते हैं और हमारे अपने युग में रामकृष्ण और सारदा के रूप से। श्री रामकृष्ण ने अपने जीवन में कई बार कहा भी तो था,"जो राम, जो कृष्ण,वही इस बार एकही आधार में रामकृष्ण।"

पर क्या नरेन्द्रनाथ इस कथन पर विश्वास कर सके थे? उन्हें विश्वास करना पड़ा था। उन्होंने श्रीरामकृष्ण की परीक्षा ली थी और उनकी परीक्षा की कसौटी पर श्रीरामकृष्ण खरे उतरे थे। अविश्वास करने की कोई गुंजाइश ही नहीं रख छोड़ी थी। वह १३ अगस्त १८८६ की घोर अँधेरी रात थी। श्रीरामकृष्ण गले के कैंसर से पीड़ित थे। काशीपुर उद्यानभवन में रह रहे थे। अभी वहाँ जहाँ मन्दिर है, उसी कमरे में रहते थे। नरेन्द्रनाथ आदि भक्तगण उनकी पीड़ा से व्यथित हो चुपचाप बैठे

थे। कुछ कर भी तो नहीं सकते थे। रोग असाध्य हो गया था। चिकित्सकों ने आशा छोड़ दी थी। कई दिनों से श्रीरामकृष्ण बोल नहीं पाये थे। कुछ बताना होता तो कोयले से लिखते या संकेत करके बतलाते। बोलने की चेष्टा करने से केवल फुसफुसाहट ही निकलती। उस दिन श्रीरामकृष्ण का कराहना सुन नरेन्द्रनाथ को लगा कि क्या यही व्यक्ति राम या कृष्ण के रूप में आया था? पीड़ा से चिल्लानेवाला व्यक्ति राम या कृष्ण हो सकता है?—असम्भव! नरेन्द्र के मन में उठा—'यदि पीड़ा के इन क्षणों में फिर से एक बार वही बात इनके मुख से निकले, तभी मैं उनके कहे का विश्वास करूँगा।' नरेन्द्र के मन में इस विचार के कौंधने की देर थी नहीं कि श्रीरामकृष्ण ने आँखें तरेरकर उनकी ओर देखा और अपनी समूची शक्ति बटोरकर बोल उठे, "अरे, अभी भी अविश्वास? फिर से कहता हूँ—जो राम, जो कृष्ण, वही इस बार रामकृष्ण; पर तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं, प्रत्यक्ष!" श्रीरामकृष्ण की वाणी पूरे कमरे में गूंज उठी और सभी ने उसे सुना। नरेन्द्र के विस्मय की सीमा न रही और उनका सन्देह सदैव के लिए समाप्त हो गया। श्रीरामकृष्ण कितने सजग हैं। 'पर तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं' यह कहना वे नहीं भूले। वेदान्त की दृष्टि से तो मैं, आप सभी अवतार हैं। वैसे वेदान्त अवतार की बात स्वीकार नहीं करता, वह तो सभी को ब्रह्मरूप मानता है। इसलिए श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि मैं सिद्धान्त की नहीं, प्रत्यक्ष की बात कह रहा हूँ। वे प्रत्यक्ष को और भी प्रत्यक्ष बना देते हैं।

अब यदि श्रीरामकृष्ण राम थे, कृष्ण थे और सारदा यदि उनकी शक्ति हैं, तब तो सारदा सीता थीं, राधा थीं—

यही निष्पन्न होता है । श्रीरामकृष्ण ने अपना राम होना, कृष्ण होना तो प्रमाणित कर दिया; क्या माँ भी अपना सीता होना, राधा होना प्रमाणित करती हैं? हाँ, करती हैं । अपनी अनुभूति के माध्यम से करती हैं । यही माँ के जीवन की विलक्षणता है, जिससे प्रमाणित होता है कि रामकृष्ण-भाव ही सारदा-भाव है, और सारदा-भाव ही रामकृष्ण-भाव ।

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के पश्चात् जब माँ लगभग एक वर्ष वृन्दावन में रहीं, उस समय उन्हें अपने राधा होने का भान हुआ था और किसी भक्त के पूछने पर उत्तर में उन्होंने कहा था, "मैं ही राधा हूँ ।" फिर जब वे रामेश्वर गयीं और शिवलिंग के दर्शन-स्पर्शन किये, त्योंही अचानक उनके मुख से निकल पड़ा, "जैसा रख गयी थी वैसा ही देखती हूँ !" गोलाप-माँ ने उनकी यह बात सुन ली । निवासस्थान में लौटने पर गोलाप-माँ ने उनसे पूछा, "माँ, मन्दिर में दर्शन करते समय तुम्हारे मुँह से एक अद्भुत बात निकली ।" "कैसी बात, गोलाप ?"––माँ ने अनजान बनकर पूछा ।

"माँ, देखो, तुम बहुत छिपाती हो, तुमने वहाँ कहा था––'जैसा रख गयी थी वैसा ही देखती हूँ'; इसका क्या मतलब ?"––गोलाप का प्रश्न था ।

माँ बोलीं, "अब मुँह से कितनी बातें निकलती रहती हैं, क्या सबको पकड़कर बैठना होता है ? मुँह से निकल गयी होगी कोई बात । उसका मतलब-वतलब क्या ?" और ऐसा कह माँ ने बात ही काट दी और वह आयी-गयी हो गयी । माँ लौटकर कलकत्ता आ गयीं । कोआलपाड़ा के श्री केदार (स्वामी केशवानन्द) उनसे मिलने आये ।

यात्रा का हाल-चाल पूछा--"माँ, यात्रा कैसी रही ?" "केदार, यात्रा बहुत अच्छी रही । बेटे शशि (स्वामी रामकृष्णानन्द) ने बहुत अच्छी व्यवस्था की थी ।"--माँ का उत्तर था ।

"रामेश्वर-दर्शन कैसा रहा, माँ ?"--केदार ने प्रश्न किया ।

"बहुत अच्छा रहा, केदार ! और जब मैंने रामेश्वर शिव के दर्शन किये तो मुझे बस ऐसा लगा कि जैसा रख गयी थी वैसा ही है ।"--माँ बोलीं ।

गोलाप-माँ वहीं से जा रही थीं । यह सुनते ही बोल पड़ीं, "बस, बस, माँ, अब तुम पकड़ में आ गयीं ! अब बात काट नहीं सकती हो । सुनो, केदार, तुमने भी सुना, माँ ने जो कहा, तुम साक्षी हो !" माँ मुसकाकर रह गयीं ।

माँ का संकेत यह है कि उन्होंने सीता के रूप में रामेश्वर शिवलिंग की स्थापना की थी । पर प्रश्न यह है कि यह प्रसंग तो किसी प्रचलित रामायण में दिखाई नहीं देता । फिर इसका प्रमाण क्या ? मैंने कई रामायणें देखीं, पुराणों को पढ़ा । 'स्कन्दपुराण' में इसका प्रमाण मिला । वहाँ ब्राह्मखण्ड में 'सेतु माहात्म्य' के अन्तर्गत कथा आती है कि रावण का वध करके श्रीराम सीताजी एवं अन्य दूसरों के साथ पुष्पक विमान में बैठ लंका से लौटते हुए सेतुबन्ध में उतरते हैं और सीताजी को सेतु दिखलाते हैं । श्रीराम को सलाह दी जाती है कि रावण के ब्राह्मण होने के नाते ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करने के लिए वे वहाँ पर शिव-लिंग की स्थापना कर पूजा करें । हनुमान्‌जी को शिवलिंग लाने कैलास भेजा जाता है, पर उनके लौटने में विलम्ब होते और स्थापना का मुहूर्त बीतते देख श्रीराम के निर्देश

पर सीताजी वहीं की बालुका ले शिवलिंग का निर्माण करती हैं और दोनों मिलकर उसकी स्थापना और पूजा करते हैं। और यह कैसी अद्‌भुत बात है कि माँ सारदा की अनुभूति उस घटना का प्रमाण बनकर हमारे सामने आती है और ठाकुर की उस बात को भी प्रमाणित कर देती है, जिसमें उन्होंने कहा था—'जो राम, वही इस बार रामकृष्ण।'

ऐसे हैं रामकृष्ण! ऐसी हैं सारदा!! अपनी शक्ति को श्रीरामकृष्ण छोड़ जाते हैं अपना भाव पुष्ट करने। यह तो माँ के श्रीमुख की ही वाणी है। वे कहा करती थीं, "देखो बेटे, ठाकुर के जाने के बाद मैं भी जाना चाहती थी, पर उन्होंने मुझे जाने नहीं दिया, वे मुझे यहीं रख गये। ईश्वर का मातृभाव दिखाने वे मुझे छोड़ गये हैं, बेटा!" और छोड़ ही तो गये थे ठाकुर उन्हें—जबरदस्ती करके। ईश्वर का मातृत्व क्या होता है इसे अपने जीवन के माध्यम से दिखाने। ठाकुर अपने अन्तिम दिनों में माँ की ओर एकटक ताका करते थे, जैसे कुछ कहना चाहते हों। एक दिन माँ ने पूछा, "तुम इस प्रकार मेरी ओर क्यों देखते रहते हो भला? कुछ कहना चाहते हो?" ठाकुर शिकायत के स्वर में बोले, "क्या सब कुछ अकेले ही मुझे करना है? तुम कुछ नहीं करोगी?" माँ चकित हो गयीं, बोलीं, "यह करने-वरने की क्या बात कर रहे हो? मैं औरत की जात, मैं भला क्या करूँगी?"

"नहीं, तुम्हें करना है। कलकत्ते के लोग कीड़ों की भाँति विलबिला रहे हैं। तुम्हें उनका उद्धार करना है।" —और यह कह श्रीरामकृष्ण ने संकेत कर दिया कि माँ को क्या करना है। फिर एक दिन नरेन्द्र आदि बालक-

भक्तों की ओर इशारा करते हुए कहा, "तुम्हें इन लड़कों को देखना है।" और वे तैंतीस वर्ष की विधवा सारदा पर उन लड़कों का भार डालकर चले जाते हैं। ये लड़के हैं कौन?—तेईस वर्ष का नरेन्द्र, तेईस वर्ष का राखाल, लगभग उसी उम्र के बाबूराम, शरत्, शशि, निरंजन, योगेन, सारदाप्रसन्न, काली, हरिनाथ आदि, फिर बत्तीस वर्ष के तारक, और लगभग पचपन वर्ष के गोपाल। तैंतीस वर्ष की विधवा इन लड़कों को देखेगी! पर देखा ही तो उसने। श्रीरामकृष्ण नाछोड़बन्दा जो हैं! वह संघजननी बन गयी। लड़कों ने बनाया रामकृष्ण संघ और सारदा बन गयीं संघजननी। सबका मातृवत् पालन किया। जैविक मातृत्व से ऊपर उठकर ईश्वर का मातृत्व लोगों के सामने रखा। उन्हें देखकर लोग समझ पाये कि ईश्वर का मातृत्व क्या होता है। वैसे तो संसार में माता का प्यार सबसे उत्कृष्ट माना गया है, क्योंकि उसमें स्वार्थ का लेश नहीं होता। पति-पत्नी के परस्पर प्यार में स्वार्थ रहता है, पर माँ अपनी सन्तान से जो प्यार करती है, उसमें स्वार्थ की गन्ध तक नहीं होती। वह रात-रात जागकर अपने रुग्ण बच्चे की सेवा करती है—यह सोचकर नहीं कि जब मैं बूढ़ी हो जाऊंगी तब यह मेरी सेवा करेगा। वह केवल निश्छल प्यार के कारण ऐसा करती है। पर ऐसा पवित्र मातृत्व भी एक जगह जाकर सीमित हो जाता है। एक माता जैसे अपने बच्चे से प्यार करती है, वैसा दूसरे के बच्चे से नहीं कर सकती। यही जैविक मातृत्व की सीमा है। ईश्वर के मातृत्व में ऐसी कोई सीमा नहीं। ईश्वर का मातृत्व तो पापी-पुण्यात्मा, साधु-असाधु सबको समान रूप से प्यार बाँटता है। तभी तो माँ ने कहा था, "मैं सत्

की भी माँ और असत् की भी माँ !" उनके ईश्वरीय मातृत्व के सामने सज्जन-दुर्जन का भेद नहीं था । मानो सभी उनके पेट के जाये बच्चे थे । अमजद की कथा जानी हुई बात है । माँ का कितना प्यार है अमजद पर । अमजद मुसलमान है, चोर है, कई बार जेलखाने की हवा खा आया है । गाँव के लोग उसकी छाया से भी दूर भागते हैं । इतना पातकी है वह सबकी आँखों में । पर अमजद के प्रति माँ के प्यार में कोई कमी नहीं । गाँववाले कहते हैं, "माँ, तुमने इन मुसलमानों को सिर पर चढ़ा दिया है । तुम इन्हें काम देती हो, प्यार से इनसे बातें करती हो, और इधर ये चोरी करते हैं, डाका डालते हैं ।" माँ बोलीं, "देखो, तुम लोग तो इन्हें काम देते नहीं । इनके पेट में भी तो आग है । आग को कैसे भी तो बुझाना है । काम नहीं दोगे तो चोरी करके, डाका डालके अपने पेट की आग बुझाएँगे । तुम लोग तो हरदम इनको दुरदुराते रहते हो । मैं प्यार से बोलती हूँ तो मेरे पास आते हैं । इससे तुमको क्या ?" और माँ के पास वे सब आते हैं, माँ उन्हें काम देती हैं ।

अमजद माँ के मकान के छप्पर की मरम्मत कर रहा है । बेला हो गयी है । माँ ने दो-तीन बार पुकारा, "आओ बेटा, थोड़ा कुछ खा लो, फिर करना ।" अमजद हाथ के काम को निपटा देना चाहता है । कहता है, "बस, अभी आया, माँ !" एक ने अमजद से कहा, "कैसे हो ? माँ तुम्हारे लिए बिना खाये बैठी हैं और तुम हो कि उतर नहीं रहे हो ?" अमजद अवाक् रह गया । 'माँ मेरे लिए बिना खाये बैठी हैं ?'—विश्वास नहीं कर पा रहा है । ऐसा तो उसकी गर्भधारिणी माँ ने कभी नहीं किया । वह काम

छोड़कर चटपट नीचे उतरा, माँ के पास जा शिकायत के स्वर में बोला, "माँ, यह क्या ? तुम मेरे लिए बिना खाये बैठी हो ! यह तो अन्याय है, माँ !" माँ ने पुचकारते हुए कहा, "अरे, अगर घर में कोई सन्तान बिना भोजन किये रहे, तो माँ कैसे खा सकती है ? चलो, हाथ-मुँह धो लो और खाने बैठो ।" अमजद आँगन में खाने बैठा । माँ की भतीजी नलिनी चीजें फेंक-फेंककर अमजद की पत्तल पर परोसने लगी । माँ ने यह देख कहा, "अरे, इस प्रकार परोसने से क्या कोई पेट भर खा सकता है ? ला, तुझसे नहीं बनता तो मैं परोसे देती हूँ ।" और माँ अमजद के पास बैठ गयीं । पत्तल में प्यार से खाने की चीजें परोसते हुए बोलीं, "बेटा, थोड़ा भात और ले लो ।" आज अमजद ने जी भरकर भोजन किया । जीवन में कभी उसे इतनी तृप्ति नहीं मिली थी । और जब वह पत्तल उठाने लगा तो माँ ने रोक दिया, कहा, "रहने दो, उसके लिए और लोग हैं ।" और लोग कौन थे भला ? माँ स्वयं ही थीं । उन्होंने जूठी पत्तल उठाकर फेंकी, स्थान को साफ किया । नलिनी यह देखते ही चिल्ला उठी, "ओ बुआ, तुम्हारी जात गयी !" माँ बोलीं, "चुप रह; जैसे शरत् मेरा बेटा है, वैसे ही अमजद भी !" कहाँ शरत्--स्वामी सारदानन्द, श्रीरामकृष्ण के संन्यासी-शिष्य, रामकृष्ण संघ के महा-सचिव, और कहाँ म्लेच्छ, चोर, जेल की हवा खानेवाला अमजद ! यही ईश्वर का मातृत्व है ।

दक्षिणेश्वर की घटना । माँ ठाकुर का भोजन थाल में सजाकर नौबतखाने से उनके कमरे में ले जा रही हैं । एक महिला ने बीच में माँ को रोककर कहा, "माँ, थाल मुझे दे दो, मैं ठाकुर के कमरे में रख आती हूँ ।" माँ ने थाल

दे दी और वह उसे ठाकुर के कमरे में रख आयी । माँ कुछ क्षण पश्चात् वहाँ गयीं । थाल की चीजें सजा दीं और ठाकुर से कहा, "आओ, खा लो ।" माँ ने देखा, ठाकुर रूठे बैठे हैं । दो-तीन बार माँ ने पुकारा, पर ठाकुर उसी प्रकार बैठे रहे । "आज क्या हो गया तुम्हें ? ऐसे मुँह फुलाकर क्यों बैठे हो ? आओ, भोजन ठण्डा हो जायगा ।"--माँ ने फिर कहा ।

"तुम जानती हो वह औरत कैसी है ? वह दुराचारिणी है ।"--ठाकुर बोले ।

"हाँ, जानती हूँ ।"--माँ का उत्तर था ।

"जब तुम जानती हो कि मैं ऐसे लोगों का छुआ नहीं खा सकता तो फिर उसके हाथ भेजा क्यों ? तुम तो खाने की कहती हो, पर मेरी तो नजर ही उधर नहीं जा रही है ।"--ठाकुर ने आक्रोश व्यक्त किया ।

माँ ने मनुहार की । कहा, "क्या करूँ, उसने थाली माँगी तो मैंने दे दी । अब और विलम्ब न करो, खा लो ।"

ठाकुर उठते हुए बोले, "अच्छा, वचन दो अब से तुम ऐसा नहीं करोगी ।" इस पर माँ ने हाथ जोड़ लिये और अनुनय के स्वर में बोलीं, "ठाकुर, ऐसा वचन नहीं दे सकती । अगर कोई 'माँ' कहकर मुझे पुकारे और मुझसे कुछ माँगे, तो मेरे लिए कुछ भी अदेय नहीं होगा !"

क्या अद्‌भुत बात है ! यही ईश्वर का मातृत्व है । उसके लिए कुछ भी अदेय नहीं है । आवश्यकता है केवल माँ कहकर पुकारने की । कहीं कोई भेदभाव नहीं । जिन्हें समाज 'अछूत' कहता रहा है, उन्हें भी माँ की कृपा मिली । वे भी माँ से मंत्रदीक्षा प्राप्त करके धन्य हुए । माँ का जीवन इस तरह की घटनाओं से भरा पड़ा है ।

'उद्बोधन' की बात है। एक १९-२० साल की लड़की सीढ़ी चढ़कर ऊपर गयी और दरवाजे के पास खड़ी होकर सुबकने लगी। माँ भीतर थीं। सुबकने की आवाज उनके कानों में गयी। माँ वहीं से बोलीं, "कौन है, बेटी? क्यों रो रही हो? भीतर आ जाओ।" माँ का प्यार-भरा शब्द सुनकर लड़की का रोना और बढ़ गया। वह रोते-रोते कहने लगी, "नहीं माँ, तुम मेरी बात सुनोगी तो तुम मुझे अन्दर नहीं आने दोगी, जैसे मेरी अपनी माँ ने नहीं आने दिया। मैं पतिता हूँ, गिर पड़ी हूँ, घरवालों ने मुझे निकाल दिया है।" और ऐसा कह वह और भी जोर से रोने लगी। तब माँ सारा काम छोड़कर बाहर आयीं, लड़की को अपनी छाती से लगा लिया और अपनी भुजाओं में भरकर उसे भीतर ले जाते हुए बोलीं, "देखो, यदि सन्तान कीचड़ में गिरकर अपने को सान ले तो क्या माँ उसे फेंक देती है? नहीं, उसे गोद में उठाती है, साफ करती है। ठीक है, तुम फिसल गयी हो, पर यह जो तुम्हें अनुताप हो रहा है उसी से होगा। मैं तो तुम्हारी माँ हूँ!"

यह ईश्वर का मातृत्व है।

अपनी कितनी सन्तानों से माँ ने कहा, "मुझ तुम्हारी मा के रहते तुम्हें डर किस बात का, बेटा!" यह माँ की हम सबके लिए आश्वासन-वाणी है, अभय वाणी है।

जयरामवाटी की घटना है। एक २०-२२ साल का लड़का कलकत्ते से शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्दजी) का पत्र लेकर आया है। माँ से दीक्षा लेना चाहता है। बहुत छोटी कोई नौकरी करता है। उसकी माँ बचपन में मर चुकी है, इसलिए किसी को उसने 'माँ' कहकर नहीं पुकारा है। माँ ने उसे बड़े प्यार से अपने पास

रखा । दीक्षा दी । कुछ दिन वहाँ रहने के बाद आज वह कलकत्ता लौट रहा है। उसने आकर माँ को प्रणाम किया । माँ के मन में एक अफसोस रह गया है कि इस लड़के ने एक बार भी मुझे माँ कहकर नहीं पुकारा । अब क्या करें ! माँ को प्रणाम करके लड़का चलने को उद्यत हुआ । माँ ने शरत् महाराज के लिए एक सन्देशा दिया और उससे कहा, "देखो बेटा, तुम जाकर शरत् से कहना कि माँ ने आपके लिए यह सन्देशा दिया है ।" लड़के ने हामी भरते हुए सिर हिला दिया । जब वह चलने लगा, तो माँ ने उससे पूछा, "अच्छा, बोलो तो तुम शरत् से क्या कहोगे ?" लड़का बोला. "मैं उनसे कहूँगा कि आपने उनके लिए यह सन्देशा भेजा है ।"

"नहीं, ऐसा नहीं, उससे कहना कि माँ ने आपके लिए यह सन्देशा भेजा है ।"––माँ ने 'माँ' शब्द पर जोर देते हुए कहा ।

लड़के ने स्वीकृति में पुनः सिर हिला दिया और माँ के पूछने पर कि वह जाकर शरत् से क्या कहेगा, वही पहलेवाला उत्तर दुहरा दिया । पर माँ हारीं नहीं । जब तक लड़के ने यह नहीं कहा कि 'मैं शरत् महाराज से कहूँगा कि माँ ने आपके लिए यहसन्देशा भेजा है', तब तक माँ ने छोड़ा नहीं । और उसके मुंह से इस प्रकार 'माँ' सुनकर माँ को कितना आनन्द हुआ यह वर्णनातीत है । कितने बड़े-बड़े लोग 'माँ' कहकर पुकार रहे हैं पर उससे तृप्ति नहीं है । इस लड़के ने 'माँ' कहकर नहीं पुकारा––इसी से माँ अतृप्त हैं ।

यही ईश्वर का मातृत्व है, जिसे दिखाने के लिए ठाकुर माँ को छोड़ गये थे । यही माँ के द्वारा रामकृष्ण-भाव को पुष्ट करना है ।

फिर एक दूसरे ढंग से भी देखें। श्रीरामकृष्ण के जीवन का मूलमंत्र था—'अद्वैत ज्ञान को कपड़े के खूँट में बाँधकर जो चाहे करो।' उनका जीवन उनके इसी कथन की विस्तृत व्याख्या था। माँ भी अपने जीवन की छोटी से छोटी क्रिया के द्वारा इस सिद्धान्त को पुष्ट करती रहीं। ऊपर से देखने पर ऐसा लग सकता है कि माँ संसार में कितनी लिप्त हैं, पर उनका अद्वैतज्ञान कभी नहीं छूटा।

जयरामवाटी में माँ अपने पुराने मकान के बरामदे में बैठी हुई थीं। एक सेविका झाड़ू से आँगन बुहार रही थी और बुहारने के बाद उसने झाड़ू एक ओर फेंक दी। माँ बोल उठीं, "यह क्या? जो झाड़ू स्वयं गन्दी होकर तुम्हारी गन्दगी दूर करती है, उसके साथ ऐसा व्यवहार?" वे स्वयं उठीं, झाड़ू को हाथ में उठाया और हाथ को माथे से लगाया, मानो झाड़ू को प्रणाम कर रही हों और उसे करीने से एक ओर रख दिया। अब इससे बढ़कर अद्वैत-ज्ञान का निदर्शन क्या हो सकता है?

ठाकुर ने उनसे कहा था—"इन लड़कों को देखना।" माँ ने आपत्ति की थी, पर आखिर में लड़कों को उन्हीं को देखना पड़ा। उन्हें संघजननी बनकर इन लड़कों का मार्गदर्शन करना पड़ा। जब कभी उन लोगों को कोई संशय होता, माँ उसका निराकरण करतीं। उनमें मतभेद होता, माँ उसे दूर करतीं। श्रीरामकृष्ण ने मंत्र दिया—'शिवज्ञान से जीव-सेवा'। नरेन्द्रनाथ स्वामी विवेकानन्द के रूप में विश्वप्रसिद्ध बनकर विदेश से भारत लौटे। तब मठ आलमबाजार में था। स्वामीजी अपने गुरुभाइयों और मठ के नवसंन्यासियों के समक्ष श्रीरामकृष्ण द्वारा प्रतिपादित सेवाधर्म समझाने लगे और अपनी कार्यप्रणाली

उनके सामने रखने लगे । उनके गुरुभाई योगानन्दजी ने विरोध करते हुए कहा, "यह जीव-सेवा का कार्य तुम्हारे दिमाग की उपज है । ठाकुर ने ऐसा उपदेश नहीं दिया । वे तो यही कहते थे कि ईश्वर-लाभ ही जीवन का उद्देश्य है, और तुम पश्चिम से सेवा-फेवा की बात लाकर हमारे सिर पर थोप रहे हो ।" और केवल योगानन्द क्यों, श्रीराम-कृष्ण के कुछ अन्य शिष्य भी ऐसा ही विचार रखते थे । यहाँ तक कि 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के लेखक 'म' (महेन्द्रनाथ गुप्त) भी ऐसा ही सोचते थे । अब फैसला कैसे हो ? श्रीरामकृष्ण तो भौतिक शरीर में थे नहीं । तब माँ निर्णय देती हैं । वे संशय दूर करती हैं ।

उस समय माँ वाराणसी में थीं । वहाँ का सेवाश्रम देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने अपने आशीर्वाद-स्वरूप सेवाश्रम को १०) का एक नोट भेंट में दिया । यह नोट अभी भी सुरक्षित रखा हुआ है । तब 'म' भी वहीं थे । कुछ संन्यासियों ने 'म' से कहा, "मास्टर महाशय, हम जाकर माँ से फैसला करा लेते हैं कि यह सब सेवा-कार्य ठाकुर की इच्छा के अनुरूप है या नहीं ।" सब लोग माँ के पास गये और मन का संशय प्रकट किया ।" माँ उत्तर में बोलीं, "देखो बेटा, नरेन ने वही किया जो ठाकुर ने चाहा था ।" तात्पर्य यह कि विवेकानन्द ने अपने मन से यह सब नहीं किया, उन्होंने केवल श्रीरामकृष्ण की इच्छा को रूपायित किया । इस प्रकार माँ ने रामकृष्ण संघ और उसके सेवा-कार्यों पर मुहर लगा दी । यही माँ के द्वारा रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन को पुष्ट करना है, उसका संरक्षण करना है । यही उस आन्दोलन में माँ की भूमिका है । ईश्वर-दर्शन माँ की मुट्ठी में बँधा था;

शिवज्ञान से जीव-सेवा पर उन्होंने अपनी मुहर लगायी; सन्तानों में किसी भी प्रकार जाति या धर्म का विचार नहीं किया, जो भी उनके पास आया सबको बिना किसी भेद-भाव के दीक्षा दी; पापी से घृणा नहीं की, उसे प्यार ही दिया और अपने स्नेह के द्वारा उसे सन्मार्ग पर लगा दिया। सबसे बड़ी बात, ठाकुर को पाने का पथ सुगम कर दिया। उनके श्रीमुख से ही कई बार सुना गया कि उनमें और ठाकुर में कोई भेद नहीं है। उनको पाना माने ठाकुर को पाना। और उनको कैसे पाना ?—इसका रास्ता तो उन्होंने बता दिया है। "सब समय जानना कि तुम्हारे एक माँ है।" "मुझ तुम्हारी माँ के रहते डर किस बात का, बेटा ?"—यह उनके श्रीमुख की वाणी है। वे तो हमें अपनी गोद में उठा लेने को तैयार खड़ी हैं, बस, एक बार 'माँ' की पुकार भर हमसे सुनना चाहती हैं। हम पुकारें तो सही, उनके हाथ तो हमें लेने के लिए बढ़े ही हुए हैं। पर खेद यह है कि हम पुकार नहीं पा रहे हैं। पेट का जाया बच्चा भी जब तक व्याकुल होकर माँ को नहीं पुकारता, उसकी माँ आकर उसे गोद में नहीं लेती। खेल-खेल में वह तो कई बार माँ को पुकारता है, पर माँ जानती है कि वह व्याकुल होकर नहीं पुकार रहा है, यों ही बुला रहा है। पर जब बच्चा सचमुच माँ को चाहता है, तब माँ उसकी पुकार सुनकर ही समझ जाती है कि अब बच्चे के पास उसे जाना है। इसी प्रकार हम भी 'माँ' 'माँ' कहते तो रहते हैं, पर माँ जानती है कि यह पुकार सच्ची नहीं है। और हम शिकायत करते हैं कि हमने इतनी बार माँ को पुकारा, पर माँ नहीं आयी। श्रीरामकृष्ण एक गीत गाया करते थे—

'डाक देखि मन डाकार मतन केमन श्यामा थाकते पारे' —'अरे मन, जरा पुकारने के समान तो पुकार, फिर देख माँ श्यामा बिना आये कैसे रह सकती है ?'

और भी एक काम किया है माँ ने। ठाकुर से वरदान ले रखा है हम सबके लिए। एक दिन वे श्रीरामकृष्ण से बोलीं, "तुम राम के रूप में आये, कृष्ण के रूप में आये, अबकी इस रूप में आये हो। इस रूप में आने की तुम्हारी विशेषता क्या है ?" श्रीरामकृष्ण समझ नहीं पाये। बोले, "तुम कहना क्या चाहती हो ?"

"यह कि जो भी तुम्हारे पास आये, तुम्हारा नाम ले, उसको कम से कम अन्त समय में आकर अपने साथ लेते जाना।"—माँ ने अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा।

"तथास्तु !"—यह ठाकुर का वरदान था।

○

श्री चैतन्य महाप्रभु (७)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखा उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, जिसका हिन्दी अनुवादक धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादक, स्वामी विदेहात्मानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर के अन्तेवासी हैं।——स०)

माघ मास समाप्त होने को था, मकर की अन्तिम संक्रान्ति के कारण उस दिन गंगास्नान का योग था। सुबह से ही बहुत से नर-नारी गंगाजी में स्नान-दान आदि करने के लिए चले आ रहे थे। घाट के समीप ही भारतीजी का आश्रम था। 'नदिया के निमाई' को सभी पहचानते थे। उस अंचल में भला कौन था ऐसा, जिसने उनका सुमधुर कीर्तन, नृत्य, भावावेश आदि न देखा हो? आश्रम में स्वामीजी के सम्मुख मुण्डितमस्तक निमाई को देखकर सभी लोग विस्मित रह गये। पूछताछ करने पर जब लोग सारी बातों से अवगत हुए तो उनके दुःख की सीमा न रही। वयस्क महिलाएँ अजस्र अश्रुपात करते हुए 'हाय-हाय' करने लगीं। उनमें से कोई-कोई भारतीजी के पास बैठकर अनुनय-विनय करते हुए कहने लगीं, "महाराज! ऐसा कार्य मत कीजिएगा। महाराज! आपके पाँव पड़ती हूँ, इन्हें संन्यासी मत बनाएँ। वृद्धा माता के ये एक ही तो पुत्र हैं। फिर घर में युवती पत्नी है, जिसने अब तक किसी सन्तान का मुख नहीं देखा है। उनके परिवार में दूसरा कोई भी नहीं है। ये ही तो एकमात्र आश्रय हैं। संन्यासी महाराज, आपमें तो मोह-ममता है नहीं, पर इन्हें देखे बिना उन लोगों के प्राण नहीं बचेंगे।" वे लोग अनुनय-विनय करके निमाई को भी समझाने लगीं, "बेटा, घर

लौट जाओ। तुम्हारी माँ ने शायद अब तक तुम्हारे विरह में प्राण त्याग दिये होंगे ! अभी तुम्हारी पत्नी भी छोटी है, वह पागल हो जाएगी। हमारी बात मान लो, बेटा, संन्यासी मत होना, अब घर लौट जाओ।" अपेक्षाकृत कम वय की महिलाएँ विषण्ण हृदय के साथ थोड़ी दूर खड़ी निमाई की ओर देखते हुए उनकी स्त्री के भाग्य के बारे में सोच करने लगीं।

अनेक वयस्क एवं सम्भ्रान्त पुरुष भी आश्रम में एकत्र हुए थे। उन लोगों ने भी हाथ जोड़कर स्वामीजी से निमाई को संन्यास न देने का अनुरोध किया। फिर वे लोग निमाई को भी समझा-बुझाकर घर लौटाने का प्रयास करने लगे। युवकों ने आपस में मिल-जुलकर निश्चय किया कि निमाई को जैसे भी हो संन्यास नहीं लेने देंगे और आवश्यकता हुई तो बलपूर्वक उनका संन्यास रोक देंगे। *

स्थिर-धीर और प्रसन्नचित्त ब्रह्मविद् भारतीजी मौन चित्रलिखे-से बैठे थे। उनके सम्मुख दण्डायमान निमाई हाथ जोड़ समवेत लोगों की ओर उन्मुख होकर बोले, "मैं बड़ा ही दुर्भाग्यवान् हूँ, भगवान् की कृपाबिन्दु से वंचित हूँ। आप लोगों से मेरी यही प्रार्थना है कि आप निर्दय होकर उनके चरणों में आश्रय लेने से मुझे न रोकें। गृहस्थी में रहकर जीवित रहना मेरे लिए असम्भव है। इस दुःखमय, अनित्य संसार का मोह-पाश काटकर भगवान् के चरणकमलों में आश्रय ग्रहण करने में आप लोग मेरे सहायक हों—इसी के लिए मैं आप लोगों से प्रार्थना

* मुरारी गुप्त द्वारा लिखित 'चैतन्यचरित' में कटवा-निवासियों के विलाप की बात भी लिखी है।

करता हूँ । मेरी स्नेहमयी माता एवं धर्मप्राण सहधर्मिणी ने मुझे गृहपिंजर से मुक्त कर दिया है, मुझे उन लोगों से संन्यास की अनुमति प्राप्त हो गयी है; अब आप सबकी सहायता मिलते ही मेरी अभीष्ट-सिद्धि हो जाएगी ।" निमाई के गहन भाव, दृढ़ स्वर तथा ज्ञानपूर्ण बातों ने सबका हृदय जीत लिया । उनकी युक्तियुक्त एवं शास्त्र-सम्मत बातों का प्रतिवाद करने का साहस किसी को नहीं हुआ, बल्कि उल्टे विवेक का उदय हो जाने से उन सबके चित्त में सामयिक वैराग्य का संचार हुआ । उनके चित्त की दृढ़ता एवं संन्यास हेतु व्याकुलता देखकर उन सबके अन्तर में श्रद्धा का उन्मेष हुआ, फिर उनकी माता एवं पत्नी की अनुमति की बात सुनकर किसी को भी उनके संन्यास में बाधक होने की इच्छा न रही । निमाई की माता एवं पत्नी के कठोर हृदय की चर्चा करते हुए महिलाओं ने अपने अपने घर की राह ली और निमाई के अद्भुत त्याग-वैराग्य पर चर्चा करते हुए पुरुषगण भी विदा हुए । निमाई अब जब निश्चिन्त होकर भारती जी के साथ सत्संग एवं अपने कर्तव्य आदि पर चर्चा कर रहे थे कि इतने में नवद्वीप से उनके मौसा चन्द्रशेखर आचार्य, प्रभुपाद नित्यानन्द, जगदानन्द, मुकुन्द, दामोदर आदि भक्तगण वहाँ आ पहुँचे ।

निमाई के घर से निकल जाने के पश्चात् रात्रि के अन्तिम भाग में विष्णुप्रिया की नींद टूटने पर उन्होंने देखा कि मेरे जीवनसर्वस्व बिस्तर पर नहीं हैं । वे व्याकुल हो उन्हें ढूँढने लगीं, पर उनका पता न था । जोर जोर से रोते हुए उन्होंने शचीदेवी को

जगाया;* सास और बहू रोते-पीटते चारों ओर खोजने लगीं। माँ ने 'निमाई-निमाई' कहकर आर्त स्वर में पुकारा, परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला, केवल नहीं नहीं' की प्रतिध्वनि दिगन्त से लौट आयी।† उनका आर्तनाद सुनकर पास-पड़ोस के लोग, सगे-सम्बन्धी एवं भक्तगण दौड़े आये और इस प्रकार वहाँ बहुत से लोग एकत्र हो गये। अविलम्ब सभी उन्हें ढूँढ़ने को चारों दिशाओं में निकल पड़े। काफी देर दाब पता चला कि उन्हें एकाकी खाली हाथ कटवा की ओर जाते देखा गया है। यह सुनकर सभी को लगा कि वे निश्चय ही संन्यास लेने को केशव भारती के पास गये हैं। तब सबने मिलकर सोच-विचार किया और निमाई के पितृस्थानीय मौसा चन्द्रशेखर आचार्य, अग्रजतुल्य नित्यानन्द तथा उनके प्रिय भक्त मुकुन्द, दामोदर, जगदानन्द आदि लोगों को कटवा भेजा गया। लोगों को उम्मीद थी कि ये लोग निमाई को समझा-बुझाकर घर लौटा लाएँगे। इधर सगे-सम्बन्धी, श्रीवासाचार्य और उनकी पत्नी तथा अन्य अन्तरंग भक्तगण शचीदेवी एवं विष्णुप्रिया के पास रहकर उन्हें यथासाध्य सान्त्वना प्रदान करने लगे।

---

* "इधर विष्णुप्रिया चौंककर उठ गयीं और पलंग पर हाथ फेरकर देखने लगीं। फिर प्रभु को वहाँ न पा वे क्रन्दन करते हुए अपना सिर पीटने लगीं, 'प्रभु के स्वर्ण नूपुर तथा उनके गले का हार देखकर मैं घुल-घुलकर मर जाऊँगी, अब और जी न सकूँगी। मैं भी कैसी अभागिन हूँ कि सारी रात प्रभु के साथ जागती रही और मुझे प्रेमपाश में बाँधकर, सुलाकर, प्रभु पलायन कर गये।" (लोचनदास के पद्य का अनुवाद)।

† "जल्दी से बत्ती जलाकर विष्णुप्रिया ने इधर-उधर देखा, पर कहीं भी उन्हें अपना प्रिय नहीं मिला और बाहर के आँगन में शचीदेवी 'निमाई' का नाम लेकर पुकार रही थीं।" (वही)

कटवा में भारतीजी के आश्रम में पहुँचकर चन्द्रशेखर तथा भक्तगण निमाई को वहाँ देख आश्वस्त तो हुए, परन्तु उनका मस्तक मुण्डित देख भय से सबके प्राण सिहर उठे। नयननीर बहाते हुए वे लोग निमाई के निकट जाकर उन्हें तरह तरह से घर लौट चलने की बात समझाने लगे। भारतीजी के चरणों में प्रणाम करके उन लोगों ने उनसे भी निवेदन किया कि वे निमाई को संन्यासी न बनाकर उन्हें घर लौटा दें।

निमाई का कुसुम के समान मृदु हृदय आज वज्रवत् कठोर हो गया था। माता और पत्नी का गहन शोक तथा उनकी शोचनीय दशा का वर्णन सुनकर उनका हृदय तिल मात्र भी विचलित नहीं हुआ। अपने संकल्प पर अचल, अटल तथा सुमेरु के समान दृढ़ रहकर निमाई चन्द्रशेखर से बोले, "आप मेरे पितातुल्य हैं, आपके आदेश की अवहेलना महान् अपराध है। माता, पत्नी, सगे-सम्बन्धी तथा भक्तगण सबके समक्ष मैं अपराधी हूँ। परन्तु क्या करूँ, यदि सम्भव होता तो मैं आप लोगों को कष्ट नहीं देता। परन्तु संसार-बन्धन तथा विषयों के संसर्ग से पूर्णतः मुक्त हुए बिना, सर्वस्व त्यागकर अनन्य भाव से प्रभु के पादपद्मों में आश्रय लिये बिना मेरा चित्त शान्त न होगा। घर में रह पाना मेरे लिए असम्भव हो उठा है। आप लोग बलपूर्वक मुझे घर फिरा ले जा सकते हैं, परन्तु घर लौटने पर मेरे प्राण न बचेंगे।" निमाई ने अत्यन्त करुण स्वर में चन्द्रशेखर, नित्यानन्द तथा भक्तों के समक्ष अपने अन्तर की दशा व्यक्त की और संन्यासग्रहण-रूपी अपने अभीष्ट साधन में बाधक न होने के लिए वे हाथ जोड़कर उनसे बारम्बार प्रार्थना करने

लगे। इस पर स्नेहमय वृद्ध ब्राह्मण का हृदय विगलित हो उठा। निमाई का तीव्र वैराग्य एवं दृढ़ संकल्प देख अब चन्द्रशेखर को उसमें बाधक होना समीचीन नहीं लगा। नित्यानन्द आदि सभी ने समझ लिया कि अब निमाई को घर लौटा पाना सम्भव नहीं है। अतः वे लोग उनके इष्टलाभ में विघ्न डालने से विरत हुए। चन्द्रशेखर रुद्ध-कण्ठ से निमाई को संन्यास की अनुमति देते हुए बोले, "बेटा, हमारे भाग्य में जो होगा सो होगा, परन्तु तुम्हारे श्रेयलाभ के पथ में बाधा डालना अब उचित न होगा। जिस पथ से तुम्हारे चित्त को शान्ति की उपलब्धि हो उसी का अवलम्बन करो। भगवान् की कृपा से तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो। उनके चरणों में मैं तुम्हारे चिर कल्याण के लिए प्रार्थना करता हूँ।"

चन्द्रशेखर आचार्य, नित्यानन्द और भक्तगण का अनुमोदन पाकर निमाई का चित्त हर्ष से अभिभूत हो उठा। चन्द्रशेखर क्रियाकाण्ड में पटु पण्डित ब्राह्मण थे; अतः आत्मश्राद्ध आदि संन्यास के यथाशास्त्र पूर्वकृत्यों को सम्पन्न कराने के लिए निमाई ने उन्हीं से अनुरोध किया। इस अनुरोध को स्वीकार कर पाना उन्हें अत्यन्त कठिन प्रतीत हुआ, पर निमाई की प्रसन्नता के लिए उनके द्वारा आरब्ध अनुष्ठान को सुसम्पन्न कराने के दायित्व को चन्द्रशेखर इन्कार नहीं कर सके। इस प्रकार वे वृद्ध ब्राह्मण अपने प्राणों से भी प्रिय सन्तानतुल्य निमाई को संन्यास के पथ पर सहायता करने को अग्रसर हुए।

शास्त्रज्ञ आचार्य की सहायता से संन्यास के निमित्त श्राद्धकर्म यथाविधि सुसम्पादित हुआ। निमाई ने सदा-सर्वदा के लिए अपने पितृपुरुषों को पिण्डदान किया

और अन्त में अपना पिण्ड स्वयं ग्रहण किया। इस महान् दृश्य ने वहाँ उपस्थित सभी का हृदय छू लिया और क्षण भर के लिए सभी को इस क्षणभंगुर संसार की असारता का बोध हुआ। शास्त्रविधि के अनुसार सारा अनुष्ठान सम्पन्न हो जाने के बाद निमाई ने उपवास रखकर पूरा दिन भारतीजी तथा आश्रम के संन्यासी-ब्रह्मचारी एवं भक्तों के साथ भगवत्तत्त्व तथा तत्त्वज्ञान की चर्चा में व्यतीत किया। रात का पूर्वार्ध भी ध्यान-धारणा में बीता।

गहन रात हो जाने पर होमकुण्ड में यज्ञाग्नि प्रज्वलित की गयी। सौम्यमूर्ति प्रसन्नचित्त संन्यासीवृन्द उसके चारों ओर मण्डलाकार आसीन हुए। अग्नि के सम्मुख मुण्डितमस्तक शिखासूत्रधारी शुभ्रशुचिवेश तेजपुंजकाय श्री विश्वम्भर मिश्र स्थिर बैठे सुशोभित हो रहे थे और उनकी बगल में साक्षात् शिवस्वरूप ब्रह्मज्ञ यतिराज श्रीमत् स्वामी केशवानन्द भारतीजी सुखासन में विराजमान थे। ब्रह्मविद्या के पुनःप्रचार तथा सनातन वैदिक आदर्श की रक्षा करने हेतु मानो पुनः आत्मविद् महर्षियों का आविर्भाव हुआ था। स्तब्ध शान्त इस ठण्ड की रात में, अशोक-बकुल-वट-अश्वत्थ के तले भारतीजी के आश्रम में आज मानो नगराज हिमालय की गाम्भीर्यमय शान्ति उतर आयी थी।

भारती महाराज के निर्देशानुसार शास्त्रविधि के अनुसार समस्त क्रिया सुसम्पन्न हो जाने के पश्चात् विरजा होम प्रारम्भ हुआ। निमाई ने यज्ञाग्नि में आहुति देकर आत्मशुद्धि की—वर्ण, आश्रम, देह, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इहलोक-परलोक की सारी भोगवासना, संसार-पाश, भोगाभिमान तथा समस्त अज्ञान सदा-सर्वदा के

लिए भस्मसात् हुआ । भारतीजी ने उनकी शिखा काट दी, यज्ञसूत्र और शिखा की आहुति दी गयी और इसके साथ ही निमाई का इस मायिक जगत् के साथ, गृह एवं गृहस्थाश्रम के साथ सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया ।

शिखा-सूत्र-विहीन संन्यासी ज्वलन्त पावक के समान देदीप्यमान हो रहे थे । उनकी स्थिर धीर प्रशान्त एवं गम्भीर मूर्ति देखकर सबके अन्तर में अतीव आनन्द हो रहा था । आचार्य भारती ने उन्हें प्रैष मन्त्र, परमहंस गायत्री, ब्रह्ममन्त्र, महावाक्य आदि सुनाया तथा गैरिक कौपीन, बहिर्वास, दण्ड, कमण्डलु आदि प्रदान कर 'श्रीकृष्णचैतन्य भारती' नाम से विभूषित किया ।*

अब से वे जगन्नाथ मिश्र के तनय 'विश्वम्भर मिश्र' अथवा शचीदेवी के दुलारे लाल 'निमाई' या विष्णुप्रिया के प्राणनाथ 'गौरांगसुन्दर' नहीं रहे । आज से वे श्रीमत् शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित दशनामी† संन्यासी सम्प्रदायभुक्त, श्रीमत् स्वामी केशवानन्द भारती महाराज के शिष्य, श्रीमत् श्रीकृष्णचैतन्य भारती के नाम से परिचित हुए । लोगों द्वारा उनके नाम का संक्षेपण कर 'श्रीचैतन्य' के रूप में सम्बोधित किये जाने के फलस्वरूप जगत् में वे 'श्रीचैतन्यदेव' के नाम से ही सुपरिचित हुए । भक्तगण उनके प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए उन्हें 'श्री चैतन्य महाप्रभु' कहते हैं । किसी

---

* दशनाम—तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती, पुरी ।

† ततः शुभे संक्रमणे रवेः क्षणे कुम्भं प्रयातिमकरान्मनीषी ।
संन्यासमन्त्रं प्रददौ महात्मा श्रीकेशवाख्यो हरये विधानवित् ।।
—मुरारिगुप्तस्य 'चैतन्यचरितम्'

किसी का कथन है कि उनका नाम स्वामी चैतन्यानन्द हुआ था, पर परवर्तीकाल म भक्तों ने उसमें 'श्रीकृष्ण' जोड़ दिया। प्राचीन ग्रन्थों में भी 'श्री चैतन्य' नाम ही मिलता है।

गुरुदेव के मुख से महावाक्य श्रवण करने के पश्चात् मनन तथा निदिध्यासन करते ही श्रीकृष्णचैतन्य को समाधि लग गयी। वे अपने आराध्यदेवता श्रीकृष्ण——प्राणों के प्राण परमात्मा, परात्पर परब्रह्म——के साथ एकीभूत हो गये। मन एवं बुद्धि का पूर्णतः लय हो जाने से वे अन्तर्दशा को प्राप्त होकर निर्विकल्प समाधि में लीन हो गये। अद्भुन शिष्य की उच्चतम अवस्था देख भारतीजी स्तम्भित रह गये। अतिशय श्रद्धा के साथ पुलकित अन्तर से वे शिष्य का निरीक्षण करने लगे। काफी देर बाद निमाई का मन धीरे धीरे थोड़ा नीचे उतर आने पर अर्धबाह्यदशा में उन्हें भावसमाधि की अनुभूति हुई। तब वे अपने प्रियतम परमात्मा परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण का लीलामय विग्रह सर्वव्यापी के रूप में सर्वत्र दर्शन कर अद्भुत प्रेमभाव में विभोर हो गये। क्रमशः मन के और भी नीचे उतर आने पर स्थूल जगत् का ज्ञान होते ही निमाई बाह्यदशा को प्राप्त होकर श्रीकृष्ण के विरह में व्याकुल होकर क्रन्दन करने लगे। रोते रोते उनका मन श्रीकृष्ण में तन्मय हो जाने से वे पुनः समाधि में लीन होकर उनकी अन्तर्बाह्य अवस्था हो गयी। इस प्रकार वे कभी अन्तर्दशा (निर्विकल्प समाधि), कभी अर्धबाह्यदशा (भाव-समाधि) और बीच बीच में बाह्यदशा (स्थूल जगत् के ज्ञान) में अवस्थान करने लगे। उनकी इन अदृष्टपूर्व अवस्थाओं एवं भावावेश को देखकर आश्रम के समस्त संन्यासी-ब्रह्मचारीवृन्द के विस्मय की सीमा न रही।

मानस-रोग (११/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'श्रीरामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनके ग्यारहवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स०)

फिर भगवान् श्रीराम क्रोध को भी स्वीकार करते हैं। वे जीवन में यत्र-तत्र क्रोध करते हुए दिखाई देते हैं; खर-दूषण के साथ युद्ध करते हुए वे क्रोध से भरे दिखाई दे रहे हैं (३।१९।छं. २)—

कोपेउ समर श्रीराम। चले बिसिख निसित निकाम ।।

नारद के प्रसंग में भी उनमें क्रोध की स्वीकृति दिखाई देती है। वे कह उठते हैं—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा ।३।४२।४

अन्य प्रसंगों में भी उनके क्रोध का वर्णन है। प्रश्न उठता है कि क्रोध को स्वीकार करने में ईश्वर का उद्देश्य क्या है ? इस सन्दर्भ में सुग्रीव का प्रसंग ही ले लें।

सुग्रीव रामायण के एक ऐसे पात्र हैं, जिनके चरित्र को पढ़कर आश्चर्य होता है कि इतने दुर्बल व्यक्ति ने ईश्वर को कैसे पा लिया ? पर उससे भी बड़ा आश्चर्य तब होता है, जब ऐसे सुग्रीव के चरणों में प्रणाम करनेवाले हनुमान्-जी जैसे महापुरुष, सन्त दिखाई देते हैं, जिनमें कहीं पर वासना का लेश नहीं। हनुमान्‌जी यदि सुग्रीव को अपना शिष्य मानते होते, तब तो कोई बात भी थी। पर वे तो

सुग्रीव के इतने प्रशंसक हैं और उनके प्रति इतने विनम्र हैं कि यह बड़ा अटपटा-सा लगता है कि हनुमान्‌जी-जैसा वैराग्यवान् सुग्रीव-जैसे विषयी व्यक्ति के चरणों में प्रणाम करे। लेकिन यह तो हनुमान्‌जी की अपनी दृष्टि थी।

किसी ने उनसे पूछ दिया कि महाराज, आप तो बाल-ब्रह्मचारी हैं और सुग्रीव गृहस्थ; एक ब्रह्मचारी गृहस्थ की सेवा कर यह तो कुछ समझ में नहीं आता है। यह उल्टी परम्परा कैसे ? हनुमान्‌जी ने मुसकराकर उत्तर दिया कि अरे भइ, जब हमारे इष्टदेव ही गृहस्थ हैं और जब मैं उनकी पूजा करता हूं, तो दूसरे गृहस्थ की मैं कैसे आलोचना करूं ? किसी ने उनसे कहा कि सुग्रीव तो ऐसे हैं, जिन्होंने भगवान् को भुला दिया। हनुमान्‌जी ने कहा——सो तो ठीक, लेकिन भगवान् ने तो सुग्रीव को नहीं भुलाया ! और सचमुच भगवान् ने सुग्रीव को विस्मृत नहीं किया, सुग्रीव धन्य हो गये। इससे हनुमान्‌जी के मन में जो प्रश्न था, उसका समाधान हो गया।

जब हनुमान्‌जी से भगवान् का पहली बार मिलन हुआ था, तो प्रभु ने उनसे पूछा था——ब्राह्मणदेवता, मैंने तो अपना चरित्र सुना दिया, अब आप भी अपनी कथा सुनाइए। इस पर हनुमान्‌जी ने उन्हें उलाहना दी थी——

पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ (४।२)

——महाराज, जीव भले ही आपको भूल जाए, पर आप भला जीव को कैसे भूल सकते हैं ? मैंने तो जीव के स्वभाव-वश आपसे आपका परिचय पूछा, जीव विस्मृतिशील है, वह भूल जाता है, पर आप तो सर्वज्ञ हैं और सर्वज्ञ होने के नाते क्या आपको पता नहीं कि मैं कौन हूँ ? आप कबसे

भूलने लगे ? भगवान् राम ने सफाई दी——नहीं, नहीं, भूला नहीं हूँ, मैंने तो तुमसे केवल यही कहा——

कहहु बिप्र निज कथा बुझाई ।।४।१।४

इसके उत्तर में हनुमान्जी ने जो कहा, उसे परिचय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परिचय तो तब होता है जब हनुमान्जी अपने जन्म की, चरित्र की कथा सुनाते और कहते कि मैं पवन और अंजना का या कि केशरी और अंजना का पुत्र हूँ, पर वे तो कहते हैं——

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान ।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान् ।।४।२

——मैं मन्द हूँ, मोह के वश में हूँ, कुटिल हृदयवाला हूँ, अज्ञानी हूँ । इस पर भगवान् ने हँसकर हनुमान्जी की ओर देखा, मानो यह पूछ रहे हों——यह कथा सुना रहे हो या व्यथा ? हनुमान्जी बोले——महाराज, मैं यही तो कहना चाहता था कि कथा तो केवल आपकी ही है, जीव को तो व्यथा ही व्यथा है । जीव अपनी व्यथा और समस्या ही आपके सामने रख सकता है । हनुमान्जी की आकुल वाणी सुनकर भगवान् उन्हें हृदय से लगा लेते हैं और उनका नाम लेते हुए कहते हैं——

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत (४।३)

और इस प्रकार बतला देते हैं कि मैं तुम्हें भूला नहीं हूँ; यदि मैं भूला होता तो तुम्हारे न बताने पर भी तुम्हारा नाम मुझे कैसे ध्यान में रहता ? फिर हनुमान्जी को सान्त्वना देते हुए कहते हैं——

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना ।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।।४।२।७

—सुनो हनुमान् ! तुम बुरा मत मानना, तुम तो मुझे लक्ष्मण से दूने प्रिय हो ।

तथापि हनुमान्‌जी को इस बात की प्रतीति कि भगवान् भुलाते नहीं हैं, बहुत बाद में हुई । सुग्रीव राज-पाट पाकर भोगों में भूल जाते हैं । भगवान् के पास जाने की उन्हें याद ही नहीं रहती । पर हनुमान्‌जी तो प्रतिक्षण भगवान् श्रीराम की स्मृति में डूबे रहते हैं, फिर भी वे प्रभु के पास नहीं गये । क्यों ? इसलिए कि हनुमान्‌जी देखना चाहते थे कि ईश्वर अधिक भूलनेवाला है या जीव । और प्रभु ने दिखा दिया कि जीव ही ईश्वर को भूलता है, ईश्वर जीव को नहीं । गोस्वामीजी कहते हैं कि भगवान् राम ने रोष को स्वीकार किया । उन्हें सुग्रीव पर रोष आता है और वे लक्ष्मण को श्रोता बनाते हैं । जहाँ क्रोध का प्रसंग हो, वहाँ लक्ष्मणजी से बढ़िया श्रोता और कोई नहीं हो सकता, क्योंकि लक्ष्मणजी क्रोध के बड़े समर्थक हैं । उनके चरित्र में अग्नि की तेजस्विता है । उनका क्रोध रामायण में सर्वत्र दिखाई देता है । तो, आज जब भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने क्रोध की यह नयी भूमिका स्वीकार की, तो लक्ष्मणजी यह सोचकर आश्चर्यचकित हो गये कि मेरी भूमिका प्रभु ने कैसे ले ली । प्रभु ने कहा——लक्ष्मण, देखा सुग्रीव को ? राज्य, खजाना, नगर और स्त्री पाकर उसने भी मेरी सुधि भुला दी !——

> सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी ।
> पावा राज कोस पुर नारी ।।४।१७।४

"तो महाराज, इस अपराध के बदले में क्या करने का विचार है ?"—लक्ष्मणजी ने पूछा । प्रभु बोले—

जेहिं सायक मारा मैं बाली ।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली ।।४।१७।५
—जिस बाण से मैंने बालि का वध किया था, उसी से मैं उस मूर्ख सुग्रीव का कल वध करूँगा ।

गोस्वामीजी ने बहुत बढ़िया बात लिखी—
लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना (४।१७।८)
—लक्ष्मणजी ने देखा कि भगवान् को क्रोध आ गया है । उन्होंने उनके चरणों को पकड़ लिया और बोले, "महाराज, मेरा काम मुझे ही करने दीजिए, आप न करें तो ही ठीक है ।"

तो, क्रोध की भूमिका यह है कि अगर कोई अपराधी है, तो उसे दण्ड देने की आवश्यकता है । जब अग्नि घर के एक कमरे में जलती होती है, तब भोजन को पकाती है; जो व्यक्ति वह पका हुआ भोजन ग्रहण करता है, उसके भीतर भी वह अग्नि पित्त के रूप में भोजन को पचाती है, शरीर को शक्ति देती है; पर वही अग्नि यदि अनियंत्रित हो जाय तो घर में आग लगा सकती है, व्यक्ति को जलाकर खत्म कर दे सकती है । अभिप्राय यह है कि क्रोध अगर सन्तुलित होगा, समन्वित होगा, सीमा में होगा, तो वह बुराई को विनष्ट करनेवाला होगा । यहाँ पर भगवान् राम के क्रोध की भूमिका यही है । लक्ष्मणजी ने भगवान् राम से जब यह कहा कि आपका विचार तो बड़ा अच्छा है, मैं अभी जाकर सुग्रीव को मार आता हूँ, तो भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने कहा कि लक्ष्मण, अग्नि अगर जलावे तो कौन पसन्द करेगा ? अग्नि यदि शरीर में शक्ति बढ़ावे, तेजस्विता बढ़ावे, तब तो वह सबको प्रिय होगी । वैसे हर व्यक्ति के शरीर में अग्नि विद्यमान है, और

जब वह मन्द पड़ जाती है, तब व्यक्ति चिन्तित हो जाता है कि यह अग्नि प्रज्वलित कैसे हो। पर दोष तब होता है, जब अग्नि एक सीमा लाँघ जाती है।

जब शंकरजी ने पार्वती को कथा सुनाते हुए कहा—

लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना।
धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना ।।४।१७।८

—तो पार्वतीजी ने आश्चर्य से सोचा कि यह भगवान् की कथा हो रही है या क्रोध का वर्णन हो रहा है? शंकरजी उनके मन की बात भाँपकर कहते हैं—

जासु कृपाँ छूटहिं मद मोहा।
ता कहुँ उमा कि सपनेहुँ कोहा।।
जानहिं यह चरित्र मुनि ग्यानी।
जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी ।।४।१७।६-७

—जिनकी कृपा से मद और मोह छूट जाते हैं, उनको कहीं स्वप्न में भी क्रोध हो सकता है? पर उनके चरित्र का यह रहस्य तो वे ही ज्ञानी मुनि जानते हैं, जिन्होंने श्रीरघुनाथजी के चरणों में प्रीति जोड़ ली है। सत्य तो यह है कि भगवान् की कृपा से दुर्गुण छूटते हैं। पर इस समय भगवान् ने यह जो क्रोधरूप दुर्गुण को स्वीकार किया है, तो इसके पीछे एक विशेष रहस्य है। वे लक्ष्मण से कहते हैं—लक्ष्मण, तुम्हारा काम तुम करो। धनुष-बाण लेकर सुग्रीव के पास जाओ, लेकिन भय दिखाकर उसे दूर भगाना नहीं, बल्कि मेरे पास ले आओ—

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव ।।४।१८

तब लक्ष्मणजी जाते हैं और उनको तथा हनुमान्‌जी को लेकर सुग्रीव भगवान् श्रीराम के पास आते हैं। भगवान्

ने हनुमान्‌जी से कहा--पहली बार तो तुम्हीं ने मुझसे कहा था कि पर्वत पर बन्दरों के राजा सुग्रीव रहते हैं, उनके पास चलिए और उनसे मैत्री कीजिए--

तेहि सन नाथ मयत्री कीजे (४/३/३)

पर इस बार तो तुमने मुझसे प्रस्ताव नहीं किया कि आप किष्किन्धा चलिए। इस पर हनुमान्‌जी बोले--प्रभु, रोगी जब चलने में बिलकुल अशक्त था, तब वैद्यराज को ले गये थे। पर अब रोगी चलने योग्य हो गया है और चलकर वैद्य के पास आ सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि अब सुग्रीव कुछ स्वस्थ हो गये हैं। उनमें भोगलिप्सा की जो तीव्र वासना थी, वह अब मिट चुकी है। आपके क्रोध तथा उसका प्रतिनिधित्व करनेवाले लक्ष्मण ने सुग्रीव के मन की तीव्रतम वासना को भस्म कर दिया है। परिणाम यह हुआ है कि सुग्रीव स्वस्थ होकर भगवान् के चरणों में आने में समर्थ हुए हैं।

तो, क्रोध जब मर्यादित होता है, जब बुराई को विनष्ट करने के लिए, व्यक्ति को अच्छे कार्य की ओर प्रेरित करने के लिए होता है, तब वह घर में आवश्यक अग्नि के समान होता है, किन्तु जब वह अमर्यादित होता है, तब उसे एक रोग के रूप में मानते हुए काम और लोभ की श्रेणी में गिना जाता है। गोस्वामीजी लिखते ही हैं--

तात तीनि अति प्रबल खल
काम क्रोध अरु लोभ। (४/३८क)

फिर गीता में (१६/२१) भी इन तीनों का नाम एक साथ लेते हुए इन्हें नरक का द्वार कहा गया है।

रामायण में दोनों प्रकार के क्रोध आपको दिखाई देंगे। कुछ पात्र ऐसे हैं, जिनके जीवन में क्रोध सन्तुलित

है। वह उस आग के समान है, जिसे घर में भोजन पकाने के बाद बुझा दिया जाता है। पर कुछ दूसरे पात्र भी हैं, जो क्रोध में इतना उन्मत्त हो जाते हैं कि उनका क्रोध ज्वाला बनकर उन्हें जलाने लगता है। पहले प्रकार का क्रोध भगवान् राम और लक्ष्मणजी के चरित्र में दिखाई देता है और दूसरे प्रकार का क्रोध नारद, परशुराम और कैकयी के जीवन में दृष्टि-गोचर होता है, जहाँ पर 'क्रोध पित्त नित छाती जारा' वाली बात चरितार्थ होती है। यहाँ पर इस सन्दर्भ में मैं एक संकेत यह कर दूं कि क्रोध स्वयं क्रिया न होकर एक प्रतिक्रिया है। काम और लोभ तो क्रिया हैं, पर क्रोध प्रतिक्रिया है। इसका अभिप्राय यह है कि क्रोध अपने आप जन्म नहीं लेता—वह काम, लोभ और अहंकार की वृत्ति में बाधा पड़ने से प्रतिक्रिया के रूप में पैदा होता है। यदि व्यक्ति के जीवन में काम की पूर्ति में बाधा पड़े तो क्रोध आ जाएगा, या लोभी व्यक्ति के जीवन में लोभ की पूर्ति में बाधा पड़े तो वह क्रोध का शिकार होगा, या फिर अहंकारी व्यक्ति के अहंकार पर चोट लगे तो उसमें क्रोध जन्म लेगा। तात्पर्य यह है कि क्रोध जीवन में प्रतिक्रिया के रूप में आता है तथा वह अन्य अवगुणों के साथ जुड़ा हुआ आता है। रामायण में विविध पात्रों के सन्दर्भ में क्रोध का विश्लेषण किया गया है कि मनुष्य के जीवन में क्रोध कैसे आता है। काम की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न होनेवाले क्रोध का साक्षात्कार आपको नारद के चरित्र में मिलेगा।

एक सज्जन ने मुझसे कहा—गीता में कहा गया है कि—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।२/६२
--अर्थात् जब व्यक्ति विषय का चिन्तन करता है तो उससे संग उत्पन्न होता है, संग से कामना उत्पन्न होती है और कामना से क्रोध उत्पन्न होता है । यहाँ नारद के जीवन में काम और क्रोध तो दिखाई दे रहे हैं, पर उन्होंने जीवन में संग या तो शंकरजी का किया या ब्रह्मा का या फिर विष्णु का । फिर इनके जीवन में काम कैसे आ गया ? तो, कल जो बात मैंने संकेत के रूप में कही थी, उसे स्पष्ट कर दूँ । वह यह है कि शरीर से संग तो उन्होंने ब्रह्मा-विष्णु-शंकर का किया, पर जहाँ भी जाते थे, वहाँ अप्सराओं की ही कथा सुनाते थे । वे भले ही शरीर से अप्सराओं को छोड़कर चले आये थे, पर उनके मन में तो उनके सौन्दर्य का चिन्तन प्रतिक्षण हो रहा था । और विचित्र बात यह है कि जिस काम को उन्होंने हराकर भेज दिया था, उसी का वे अनवरत चिन्तन करने लगे थे । तो, संग का तात्पर्य केवल शरीर से संग नहीं होता, अपितु मनुष्य के अन्तर्मन में जिस वस्तु का चिन्तन चलता है, वही सच्चा संग होता है । अब यह चिन्तन दो प्रकार से हुआ करता है । किसी से कह दीजिए कि इसका चिन्तन करो, तो वह उसका चिन्तन करने की चेष्टा करेगा, और अगर किसी से कह दें कि इसका चिन्तन बिलकुल मत करो, तो उसके मन में बार-बार उसी का चिन्तन होगा । जैसे यदि कह दिया जाय कि बन्दर ध्यान में बिलकुल न आने पावे, तो उसको मन में बार-बार बन्दर ही दिखाई देगा । अब नारदजी के मन में जो काम-विजय है, वह इस दूसरे प्रकार से उन्हें काम का चिन्तन करा रहा है । इसे निषेधमुख से चिन्तन कहते हैं ।

एक सज्जन ने मुझे बतलाया कि एक महात्मा ने क्रोध को जीतने के उपाय लिखे हैं। उसमें सुझाया गया है कि क्रोध आने पर व्यक्ति अपने सामने शीशा रख ले और देखे कि क्रोध में शक्ल कैसी हो जाती है, तो क्रोध शान्त हो जाएगा। या फिर पानी पी ले तो क्रोध शान्त हो जाएगा। मैंने उनसे विनोद में कहा कि यदि वह शीशा स्वयं देखे तब तो ठीक है, पर कोई दूसरा व्यक्ति उसके सामने यदि शीशा रख दे, तो बड़ी समस्या उठ खड़ी होगी। नारदजी के जीवन में जो क्रोध था, वह शीशे को ही लेकर था। नारद की पहली समस्या तो यह थी कि वे भगवान् विष्णु से सुन्दरता माँगते हैं। तत्पश्चात् यदि वे शीशे में देख लेते कि भगवान् ने कैसी सुन्दरता दी है, तो झगड़े से बच जाते। पर उन्होंने मान लिया कि भगवान् ने तो अब मुझे सुन्दर बना ही दिया। नारद ने कहा था——

आपन रूप देहु प्रभु मोही।
आन भाँति नहिं पावौं ओही ॥१।१३१।६

इस पर भगवान् ने तुरत नारद को उत्तर दिया था——

कुपथ माग रुज ब्याकुल रोगी।
बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी ॥१।१३२।१

——मुनिजी, पहले यह बताइए कि यदि रोगी कुपथ्य माँगे तो क्या वैद्य देता है ? आप तो रोगी हैं और मुझसे कुपथ्य माँग रहे हैं, तो फिर मैं कैसे दूँ ? अब भगवान् का वाक्य तो बड़ा स्पष्ट था, पर नारदजी को वह सुनाई ही नहीं पड़ा। उनको दिखाई देना भी बन्द हो गया। भगवान् से जब उन्होंने कहा कि आप मुझे अपनी सुन्दरता दे दीजिए, आप मेरे बड़े हितैषी हैं, तो भगवान् ने कह दिया——

'जेहि बिधि होइहि परम हित' (१।१३२)

——तुम्हारा जिसमें परम हित होगा, मैं वही करूँगा। इतना सुनकर नारदजी ने आगे भगवान् क्या कह रहे हैं यह सुनना आवश्यक नहीं समझा। वे शरीर से तो भगवान् के सामने खड़े थे, पर मन में कल्पना कर रहे थे कि मैं स्वयंवर-सभा में बैठा हुआ हूँ, विश्वमोहिनी जयमाला लेकर आयी है और मेरे गले में पहना रही है। जब व्यक्ति के मन में तीव्र मानसिक रोग उत्पन्न हो जाता है और वह प्रलाप करने लगता है, तब बीच-बीच में कोई सुसंगत बात भी कह देता है। पर इसके कारण उसे स्वस्थ नहीं समझना चाहिए। वात के प्रकोप की यह विशेषता है कि रोगी में बोलने की क्षमता तो बढ़ जाती है, पर वह विवेकयुक्त वाणी का प्रयोग नहीं करता। जब सन्निपात इत्यादि में रोगी बहुत बक-झक करने लगे और कभी-कभी उसके मुँह से कोई सुसंगत बात निकल भी जाए, तो लोग कहते हैं कि इसको वात हो गया है। नारद भी काम-वात से पीड़ित हो गये थे, उन्होंने भी एकाध सुसंगत बात कही——

मोरें हित हरि सम नहिं कोऊ (१।१३१।२)

——मेरा हितैषी भगवान् से बड़ा कोई नहीं है। भगवान् ने मन ही मन हँसकर कहा——नारद, बस इतनी ही बात तुमने ठीक कही कि भगवान् से बड़ा हितैषी कोई नहीं है; पर आगे जितनी बातें तुम मुझसे माँग रहे हो, वह तो कुपथ्य की याचना है! और भगवान् ने नारद को जब विदा कर दिया, तो नारद ने पहले दर्पण नहीं देखा। यह आत्म-निरीक्षण का अभाव सूचित करता है। उसके पश्चात् वे स्वयंवर-सभा में पहुँचे। वहाँ जो अन्य लोग थे, वे तो नारद को नारद ही समझ रहे थे और उसी भाव से प्रणाम भी कर रहे थे, लेकिन शंकरजी के जो दो गण उनके दोनों

ओर बैठे हुए थे, वे उन्हें बन्दर की आकृतिवाला देख रहे थे। गोस्वामीजी लिखते हैं—

मुनि हित कारन कृपानिधाना।
दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना ॥१।१३२।७

शिवजी के ये दोनों गण नारदजी पर कटाक्ष करते हुए कहने लगे—

नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई (१।१३३।३)

—वाह, भगवान् ने इन्हें कैसा सौन्दर्य दिया है!

तो भइ, अगल-बगलवालों से सदा सावधान रहना चाहिए। वे क्या कह रहे हैं, किस उद्देश्य से कह रहे हैं, पता नहीं चलता। जब दायें-बायेंवाले लोग प्रशंसा करते हैं, तो समझ में नहीं आता कि उसमें कितना व्यंग्य है और कितना कटाक्ष। बेचारे प्रशंसा के आतुर व्यक्ति तो यह समझ ही नहीं पाते। तो, यहाँ पर शिवजी के दोनों गण नारदजी को सुनाते हुए आपस में कह रहे हैं—

नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई ॥
रीझिहि राजकुअँरि छबि देखी।
इन्हहि बरिहि हरि जानि बिसेषी ॥१।१३३।३-४

—लगता है कि विश्वमोहिनी इन्हीं के गले में जयमाल डाल देंगी; ये तो दूसरे साक्षात् हरि लग रहे हैं। और नारद यह सुनकर बड़े फूल रहे हैं, अपने आपको भगवान् के समान सुन्दर समझ रहे हैं। उन्हें इससे कोई मतलब नहीं कि दूसरे क्या समझ रहे हैं। वास्तव में होना तो यह चाहिए था कि नारद अपने को देखते, पर वे स्वयं को देखने की मनःस्थिति में नहीं हैं। फिर जब भगवान् आये और विश्व-मोहिनी ने उनके गले में जयमाल पहना दी तथा दोनों

चले गये, तब दोनों रुद्रगणों ने नयी भूमिका की। उन्होंने देवर्षि नारद से कह दिया——

निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई (१/१३४/६)

——जाकर दर्पण में अपना मुँह तो देखिए! अब वे लोग यही सलाह पहले भी दे सकते थे। पर वह नहीं किया। जब नारद की पूरी दुर्दशा हो गयी और वे बेचारे व्याकुल हो गये, तब उन दोनों ने उन्हें अपना मुँह शीशे में जाकर देखने की बात कही। नारदजी तुरत वहाँ से उठे और——

बदन दीख मुनि बारि निहारी (१/१३४/७)

——जल में झाँककर अपना मुँह देखा। तुलसीदासजी कहते हैं——बुद्धि आँख है और मन, शीशा।

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन।
नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन।।
तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। १/१/१-२

तो, नेत्र हैं विवेक के और दर्पण किसका है?——

श्री गुरु चरन सरोज रज निज मन मुकुर सुधारि (२/१)

——मन का। तात्पर्य यह कि हम विवेक की दृष्टि से अपने मन के दर्पण में झाँककर वास्तविकता को देखने की चेष्टा करें। जो अन्तर्मुख व्यक्ति है, वह अपने विवेक का प्रयोग करता हुआ अपने मन में झाँककर देखता है। लेकिन मन को दर्पण तब कहा जाएगा, जब वह दर्पण की तरह रहे। मन की दो स्थितियाँ हैं——एक जल की तरह और दूसरी, दर्पण की। जल में भी आकृति दिखाई देती है। एक क्षण के लिए जल शान्त-सा प्रतीत होता है, खड़े हो जाइए तो आकृति दिखाई पड़ती है, पर एक कंकड़ी भी अगर गिर जाय, हवा का तनिक झोंका चल जाय तो जल हिलने लगता है। और तब उसमें आकृति सही दिखाई नहीं देती।

इसी प्रकार जब वासना के कंकड़ से मन अशान्त और चंचल हो गया हो, तब उस अशान्त मन के द्वारा यदि व्यक्ति आत्म-निरीक्षण करे, तो वह अपनी वास्तविकता को नहीं देख पाता है। नारदजी की स्थिति ऐसी ही थी; उन्हें एकान्त में शीशे में अपना मुँह देखने को नहीं मिला, उन्होंने जल में अपने मुख को देखा। अभिप्राय यह कि चंचल मन से उन्होंने अपनी ओर देखने की चेष्टा की। फलस्वरूप 'कामात्क्रोधोऽभिजायते' वाली बात उनके जीवन में आ गयी। नारदजी को यह संकोच तो हुआ नहीं कि मैं बन्दर क्यों बन गया; उन्हें तो बस इसी बात पर क्रोध आ गया कि दूसरों ने मुझे बन्दर क्यों कह दिया। और क्रोध में आकर उनके मुँह से पहली बात निकली—

होहु निसाचर जाइ तुम्ह कपटी पापी दोउ।
हँसेहु हमहि सो लेहु फल बहुरि हँसेहु मुनि कोउ ॥१/१३५

—तुम दोनों कपटी और पापी जाकर राक्षस हो जाओ। तुमने हमारी हँसी की उसका फल भोगो!

अब रुद्रगणों की भूल यह थी कि वे नारद को हँसी का पात्र बना रहे थे। नारदजी का उपहास देखकर उन्हें आनन्द की अनुभूति हो रही थी। परिणाम यह होता है कि नारदजी का क्रोध अनियंत्रित हो गया। फलस्वरूप उन्हें ध्यान नहीं रह गया कि मैं क्या कर रहा हूँ। उन्होंने शिवगणों को राक्षस बना दिया। उनके क्रोध ने रावण और कुम्भकर्ण की सृष्टि कर दी। वह तो अच्छा हुआ कि उतने पर ही उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ नहीं तो भगवान् उनकी चिकित्सा कैसे करते? नारदजी के जीवन में क्रोध के पूरे क्रम का वर्णन गोस्वामीजी करते हैं। वे लिखते हैं—

लोभ के इच्छा दंभ बल काम कें केवल नारि।
क्रोध कें परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि।।३/३८ख
——लोभ को इच्छा और दम्भ का बल है, काम को केवल स्त्री का बल है और क्रोध को कठोर वचनों का बल है। जव व्यक्ति को क्रोध आता है तो वह अनाप-शनाप बकने लगता है। नारदजी का क्रोध सीमा का अतिक्रमण कर गया। भगवान् तो थे नहीं, पर क्रोध में उनके होंठ फड़कने लगे, मानो तैयारी करने लगे कि चलकर क्या कहना है——

फरकत अधर कोप मन माहीं।
झपदि चले कमलापति पाहीं।।१/१३५/२

——क्रोध की तीव्रता इतनी थी कि सोचने लगे——

देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई।
जगत मोरि उपहास कराई।।१/१३५/३

——या तो मैं आत्महत्या कर लूँगा, या फिर भगवान् को शाप दूँगा। मुझे उन्होंने संसार में हँसी का पात्र बना दिया। ऐसी स्थिति देखकर भगवान् ने तुरत निर्णय लिया कि अब तो नारद को स्वस्थ करना ही है। उन्होंने विचार किया कि विश्वमोहिनी को इनसे छीनकर इनके काम की चिकित्सा तो कर ही दी है, अब जरा इनके क्रोध की भी चिकित्सा कर दें, इनका क्रोध किसी दूसरे पर न उतरे, इससे अच्छा है कि जितना उतारना हो मुझ पर ही उतार लें——ऐसा सोच भगवान् बीच मार्ग में ही आकर खड़े हो गये——

बीचहिं पंथ मिले दनुजारी (१/१३५/४)

और नारद से पूछ दिया——

मुनि कहँ चले बिकल की नाईं (१/१३५/५)

——मुनिजी, इतने व्याकुल होकर कहाँ जा रहे हैं? सुनते ही नारद के मन में बड़ा क्रोध आ गया——

सुनत बचन उपजा अति क्रोधा। (१।१३५।६)
वे अपने मन में कहने लगे—देखो तो, अभी मेरे सामने विश्वमोहिनी को लिये खड़े हैं, मेरा विवाह होने नहीं दिया, मुझे बन्दर की आकृति दे दी और अब बड़े भोलेपन से पूछ रहे हैं कि आप कहाँ जा रहे हैं, जैसे पता ही न हो कि मैं कहाँ जा रहा हूँ! पर भगवान् का व्यंग्य क्या था?—यही कि जब व्यक्ति का मस्तिष्क क्रोध में अनियंत्रित हो जाता है, तो वह आवेश में उसे जहाँ जाना है उसकी उल्टी दिशा में जाने लगता है। यदि किसी समझदार व्यक्ति को पता लग जाय कि यह उल्टी दिशा में जा रहा है, तो वह पूछे बिना नहीं रहेगा कि इधर कहाँ जा रहे हो? यही भगवान् के व्यग्य का तात्पर्य था। नारद जा तो रहे थे भगवान् के पास, पर सड़क पकड़ ली थी नरक की, क्योंकि—

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ (५।३८)
—काम-क्रोध आदि का रास्ता तो नरक को ले जाता है। नारदजी ने अपना पूरा क्रोध भगवान् पर उतार दिया. बोले—

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई ।
भावइ मनहि करहु तुम्ह सोई ।।
भलेहि मंद मंदेहि भल करहू ।
बिसमय हरष न हियँ कछु धरहू ।।
डहकि डहकि परिचेहु सब काहू ।
अति असंक मन सदा उछाहू ।।
करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा ।
अब लगि तुम्हहि न काहूँ साधा ।।
भले भवन अब बायन दीन्हा ।
पावहुगे फल आपन कीन्हा ।। १।१३६।१-५

जब नारद अपना तीव्र पित्तज्वर भगवान् के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग करके उतार चुके, तब भगवान् ने प्रत्युत्तर में कुछ न कह, शान्त रह नारद को ठण्डा कर दिया। यदि एक व्यक्ति क्रोध करे और सामनेवाला भी क्रोध करे, तब तो दोनों का क्रोध अग्नि को भड़काएगा ही। अतएव भगवान् ने—

श्राप सीस धरि हरषि हियँ प्रभु बहु बिनती कीन्हि ।
निज माया कै प्रबलता करषि कृपानिधि लीन्हि ।।१।१३७

—-नारद का दिया श्राप अपने सिर पर चढ़ा लिया तथा हृदय में हर्षित हो उन्होंने नारदजी से बहुत विनती की और अपनी माया की प्रबलता खींच ली। बस, त्योंही नारद का आवेश दूर हो गया और उन्होंने भगवान् के चरणों को पकड़ लिया तथा ग्लानि में भरकर बोले—

मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे (१।१३७।४)

—-प्रभु, मैंने न जाने क्या-क्या आपको कह डाला। भगवान् ने कहा—नारद, तुम थोड़े ही कह रहे थे, वह तो तुम्हारा क्रोध कह रहा था। वह अब चला गया है। अब तो जो तुम हो वही हो, इसीलिए इस प्रकार विनम्र भाषा का प्रयोग कर रहे हो।

तो, यह कामजन्य क्रोध का स्वरूप है, जो नारद के चरित्र में दिखाई देता है। लोभजन्य क्रोध का स्वरूप कैकेयी के चरित्र में है। कैकेयी में जब लोभ आता है, तब वे कोपभवन में बैठ जाती हैं। परशुरामजी के जीवन में आनेवाला क्रोध अहंकार की प्रतिक्रिया के रूप में उपजता है। उन्हें लगता है कि सामनेवाले व्यक्ति ने उचित आदर नहीं दिया। उन्हें अपने अहं पर इतनी आस्था है कि स्वयं अपना परिचय देते हुए कहते हैं—

वाल ब्रह्मचारी अति कोही (१।२७१।६)
—मैं वालब्रह्मचारी और अत्यन्त क्रोधी हूँ !

तो, जो क्रोध काम, लोभ और अहं की प्रतिक्रिया-स्वरूप उपजता है, वह पहले देखने में उस अग्नि के समान है, जिसे हम घर में रोज देखते हैं और इस नित्य देखने के फलस्वरूप उसे इतनी भयानक नहीं मानते हैं। पर यदि हम जरासी भी असावधानी करें तो वह जैसे कपड़े को पकड़कर व्यक्ति को, घर को जला देती है, उसी प्रकार यह क्रोध भी व्यक्ति के असावधान रहने पर उसे और समाज को संत्रस्त कर देता है।

○

'विवेक-ज्योति' के उपलब्ध पुराने अंक

वर्ष	अंक	मूल्य
१९ (१९८१)	२, ३, ४	६)७५
२० (१९८२)	१, २, ३, ४	९)००
२३ (१९८५)	२, ३, ४	७)५०
२४ (१९८६)	१, २, ४	७)५०
,,	३ (रामकृष्ण संघ शताब्दी विशेषांक	५)००
२५ (१९८७)	१, २, ३	९)००
,,	४ (स्वामी विवेकानन्द १२५वीं जयन्ती विशेषांक)	५)००

इन २२ अंकों का दाम ६३)७५ होता है, पर जो एक साथ इन बाईसों अकों को मंगाएँगे, उन्हें ५०) में ही एक सेट प्राप्त होगा।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम.ए.

(१) कटुक वचन मत बोल र

"ब्रह्मभोज का नाम सुनकर तू यहाँ चला आया, मगर जानता नहीं कि मुफ्त भोजन करना महापाप है? इसके लिए तो कुछ न कुछ सेवा करनी चाहिए। आ, मैं तुझे काम देता हूँ। देख वहाँ कुछ वेदज्ञ ब्राह्मण बैठे हैं, उनके लिए चन्दन घिस दे।"—मठाधीश ने एक ओर बैठे एक ब्राह्मण से कुछ कड़े शब्दों में कहा। वह ब्राह्मण निर्धन प्रतीत हो रहा था। मठाधीश के शब्द उसे तीर की भाँति चुभे। खिन्न मन से उसने चन्दन घिसना शुरू किया।

चन्दन घिसते-घिसते मन का ताप शमन करने के लिए वह राम-नाम का जाप करने लगा। लेकिन जब उसका मनस्ताप शान्त न हुआ, तो अनजाने ही राम-नाम के स्थान पर 'अग्निसूक्त' गुनगुनाने लगा। लगभग एक घण्टे में पर्याप्त चन्दन तैयार हुआ और एक परिचारक उसे लेकर चला गया। युवक वहीं बैठा 'अग्निसूक्त' गुन-गुनाता रहा।

उपस्थित विप्रों ने जब अपने मस्तक पर चन्दन का लेप किया, तो अग्निदाह से वे तड़प उठे। सैकड़ों ब्राह्मणों को जलन से छटपटाते देख आतिथेय और ग्राम के मुखिया चिन्तित हो उठे। बात मठाधीश के ध्यान में आयी। तुरन्त युवक के पास जाकर उसने करबद्ध हो कहा, "मान्यवर! अज्ञानवश मुझसे अपराध हो गया, कृपया क्षमा करें। मैंने आपको अकारण ही कष्ट दिया। कृपया अग्निदहन से आमंत्रित विप्रों का त्राण करें।"

युवक के ध्यान में बात आयी। उसने 'अग्निसूक्त' के स्थान पर 'वरुणसूक्त' का जाप शुरू किया। इससे विप्रों

के मस्तक पर लगा चन्दन हिमजलवत् शीतलता प्रदान करने लगा। कृतार्थ हो मठाधीश ने युवक की चरण-वन्दना की। ब्रह्मभोज निर्विघ्न सम्पन्न हो गया। तब ग्राम-प्रमुख ने युवक का परिचय प्राप्त कर उसके परिवार के भरण-पोषण की व्यवस्था की। यही युवक आगे चलकर मध्व-मठ के आचार्यपीठ पर आसीन हुआ और 'राघवेन्द्राचार्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

(२) साधू के परताप महातम

सिन्ध में कँवरराम नामक एक प्रसिद्ध सन्त हो गये हैं। वे गाँव-गाँव जाकर भगवद्-भजन के माध्यम से भक्ति का प्रचार करते और लोगों को अध्यात्म, नैतिक गुणों तथा साम्प्रदायिक सद्भाव की सीख देते।

एक बार उनका मुकाम डहरकी नामक एक गाँव में था। एक दिन एक गरीब विधवा का एकमात्र शिशु ईश्वर को प्यारा हो गया और वह उसके वियोग में जोर-जोर से विलाप करने लगी। उसका शोक एक वृद्ध पुरुष से देखा न गया। उसने महिला से कहा, "बेटी, वृथा शोक न कर। यहाँ सन्त कँवरराम नामक एक महात्मा पधारे हैं। उनका आज रात्रि में मन्दिर में भजन-कीर्तन है। तू सन्तजी के चरणों में अपने मृत शिशु को रख देना और उनसे उसके चिरायु होने का आशीर्वाद माँगना। सन्तजी में ऐसी अलौकिक शक्ति है कि उनकी कृपा से यह निर्जीव शिशु जीवित हो सकता है। मगर एक बात ध्यान में रखना. इसके मृतक होने की बात उनसे छिपाये रखना।"

महिला ने सुना, तो उसके मन में आशा की लहरें फूट उठीं और अपने मृत बालक को चादर में लपेटकर

वह रात्रि को मन्दिर पहुँच गयी। उसने शिशु को कँवररामजी के चरणों पर रखकर कहा, "भगतसाहिब, मैं अपने इस नन्हें शिशु के चिरजीवन की कामना लिये आपके पास आयी हूँ। कृपया इसे भगवन्नाम का मंत्र देकर मुझ अबला को कृतार्थ करें।"

महिला की बातों पर विश्वास करके सन्तजी ने शिशु को भगवन्नाम का श्रवण कराया। मंत्र के समाप्त होने की देर ही थी कि बेजान शिशु के शरीर में जान आ गयी और वह हाथ-पैर हिलाने लगा। यह चमत्कार देखते ही महिला की आँखें श्रद्धा से भर आयीं। वह सन्तजी के चरणों पर गिर पड़ी। उसने सारी बात बताकर असत्य बोलने के लिए क्षमा माँगी। उपस्थित भक्तों ने जब शिशु के जीवित हो जाने की बात सुनी, तो वे आश्चर्य से स्तब्ध रह गये, किन्तु कँवररामजी को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने महिला से कहा, "माँजी, आपको ऐसा नहीं करना था। हमें प्रभु की करनी को 'होनहार' मानकर स्वीकार कर लेना चाहिए। इसी में हमारी भलाई है। यह तो अच्छा ही हुआ कि प्रभु ने मेरी लाज रख ली और मुझे दुविधा से बचा लिया।"

(३) बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी

औरंगाबाद में सोलहवीं शताब्दी में अमृतराय नामक एक सन्त कवि हो गये हैं। 'वैराग्यभाग्यासारखे भाग्य नाहीं'—यह उनके द्वारा रचित एक पद की लोकप्रिय कड़ी है। एक फकीर को उनका यह पद बड़ा प्रिय था। एक दिन उसके मन में शंका उठी कि क्या इसका रचयिता सचमुच विरागी होगा? और अपनी इस शंका

का निराकरण करने के लिए वह अमृतराय के पास पहुँच गया। उसने उनसे प्रश्न किया—"वैराग्यभाग्यासारखे भाग्य नाहीं' यह पद आपका ही है न ?"

"हाँ !"—अमृतराय ने शान्त स्वर में जवाब दिया।

"महाराज, क्षमा करें ! मैंने यह पाया कि 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' यह कहावत आप पर सर्वथा लागू होती है। अब देखिए न, एक ओर तो आपने सारे ऐहिक भोग भोग लिये और इधर दूसरों को वैराग्य का उपदेश करते हैं।"

"इसमें आश्चर्य की बात क्या ?"—सन्त ने जवाब दिया, "यह तो देह-प्रारब्ध है।"

"ठीक है, अगर यह देह-प्रारब्ध है, तो क्या आप मेरे साथ वन चलेंगे ?"—फकीर ने पूछा।

"अवश्य !"—सन्त ने जवाब दिया।

वह फकीर सचमुच उन्हें जंगल में ले गया। एक बड़े वृक्ष के पास आकर वह रुक गया और सन्त से उसने कहा कि वृक्ष के नीचे विश्राम करेंगे। फिर वह उनसे बोला, "मैं भोजन के लिए भीख माँगकर लाता हूँ। तब तक आप यहीं विश्राम कीजिए।" और वह समीप के गाँव की ओर चल पड़ा।

अमृतराय का एक शिष्य ऊँचे सरकारी ओहदे पर था। संयोग से वह उसी ग्राम को जा रहा था कि उसे वृक्ष के नीचे सन्त दिखाई दिये। वह रुक गया और उसने अपने सेवकों से उनके लिए गद्दी और भोजन की व्यवस्था करने को आदेश दिया।

जब वह फकीर भिक्षा लकर आया, तो उसने अमृत-राय को गद्दी पर आराम करते पाया। वही धनिक शिष्य उनके पैर दबा रहा था। फकीर ने यह देखा तो उसे

अमृतराय के 'देह-प्रारब्ध' तत्त्वज्ञान की प्रतीति हो गयी। वह उनके पैरों पर गिर पड़ा और बोला, "आपको पहचानने में मेरी बड़ी भूल हुई। मैंने आप पर व्यर्थ ही अविश्वास किया।"

इस पर अमृतराय बोले—

"जो निश्चय धरूनि बसतो
त्यास घरी बसल्या राय देतो।
अमृत म्हणे मन भिक्षा डोहळे
उठति अशा लहरी ॥"

(४) रहिमन अँसुवन नयन ढरे

मुल्ला अब्बास बगदादी से एक बार एक शिष्य ने प्रश्न किया, "सुनते हैं, प्रलय बड़ी बला होती है जिसमें सारे संसार को खतम करने की ताकत होती है। मगर क्या आप बता सकते हैं कि यह प्रलय होता क्यों है?"

सन्त अब्बासी ने कहा, "तुम ठीक कहते हो, प्रलय सचमुच बड़ी भयानक चीज है। देखें, तुम्हारे सवाल का जवाब कोई अन्य दे सकता है क्या?" और उन्होंने शिष्यों से इस प्रश्न का जवाब देने के लिए कहा। एक शिष्य ने कहा, "मेरी नजर में खुदा के प्रति इन्सान का घोर अपराध ही प्रलय का कारण है।" दूसरे ने कहा, "जब इन्सान के जुल्मों को धरती झेल नहीं पाती, तो खुदा प्रलय के जरिये उन्हें धोने का काम करता है।" तीसरे ने कहा, "नहीं मौला, बात ऐसी नहीं है। मेरी नजर में तो कमजोर आदमी की लाचारी के आँसू का एक कतरा ही प्रलय का असली कारण है।"

सन्त ने कहा, "हाँ, यह शिष्य सही कहता है। गरीब की बेवसी के कारण निकले आँसू का कतरा ही प्रलय के

लिए कारणीभूत होता है। अगर हम दीन-दुखियों के प्रति भलाई नहीं कर सकते तो कम से कम उनके आँसू पोंछने का काम तो कर सकते हैं। फिर उन्हें तकलीफ तो देनी ही नहीं चाहिए। वे बेचारे इतने लाचार और असहाय होते हैं कि हमारे दिये कष्टों को चुचाप सहन करके मुँह से 'उफ्' तक नहीं निकालते। उनकी लाचारी की झलक हमें उनकी आँखों में दिखाई दे सकती है, जो कि आँसू के रूप में बाहर फूट पड़ती है।"

(५) मन निर्मल तन निर्मल होई

स्वामी दयानन्द का तब मुकाम फर्रुखाबाद में था। एक दिन एक व्यक्ति एक थाली में दाल-भात परोसकर ले आया। वह व्यक्ति घर-गृहस्थीवाला था और मेहनत-मजदूरी करके अपना और अपने परिवार का पेट भरता था। उच्च कुल का न होने के बावजूद स्वामीजी ने जब उसके हाथ का अन्न ग्रहण किया, तो ब्राह्मणों को बुरा लगा। नाराज होकर वे स्वामीजी से बोले, "आपको इसका भोजन स्वीकार न करना था। इस हीन व्यक्ति का भोजन करने के कारण आप भ्रष्ट हो गये।" इस पर स्वामीजी ने हँसकर कहा, "क्या आप लोग जानते हैं कि अन्न-जल दूषित कैसे होता है?" लोगों द्वारा कोई जवाब न दिये जाने पर उन्होंने कहा, "नहीं जानते न, तो लीजिए, मैं ही बताता हूँ, सुनिए। अन्न दो प्रकार से दूषित होता है। एक तो वह है जहाँ दूसरे को दुःख देकर अन्न प्राप्त किया जाता है और दूसरा वह, जहाँ उसमें कोई मलिन या अभक्ष्य वस्तु पड़ जाती है। मगर इस व्यक्ति का अन्न तो इन दोनों श्रेणियों में नहीं आता। इस व्यक्ति द्वारा दिया गया अन्न परिश्रम से कमाये पैसे का है, तब दूषित कैसे हुआ और

इसे भक्षण करने में मैं भ्रष्ट कैसे हुआ ? वास्तविकता तो यह है कि हमारा मन मलिन होता है और इस कारण हम दूसरों की चीजों को मलिन मानने लगते हैं, और ऐसा करने से हम और भी मलिन हो जाते हैं।"

स्वामीजी ने आगे कहा, "इसलिए हमें एक दूसरे के प्रति भेदभाव का त्याग कर अपने मन को दूषित होने से बचाना चाहिए। इसी में हमारा कल्याण है—हमारी भलाई है।"

○

क्या वैज्ञानिक प्रवृत्तिसम्पन्न होते हुए आध्यात्मिक होना सम्भव है ? (२)

स्वामी बुधानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक रामकृष्ण मठ-मिशन के विशिष्ट संन्यासियों में थे। वे अपने सेवा-काल में अद्वैत आश्रम, मायावती के भी अध्यक्ष रह चुके थे तथा अन्त में रामकृष्ण मिशन, नयी दिल्ली के प्रमुख थे। उन्होंने बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'मन और उसका निग्रह' विशेष रूप से उल्लेखनीय है । प्रस्तुत लेखमाला उनकी एक दूसरी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'Can One be Scientific & yet Spiritual ?' का हिन्दी रूपान्तर है । रूपान्तरकार, स्वामी ब्रह्मेशानन्द, रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में कार्यरत हैं।—स०)

४. भारत में हुए उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक नवजागरण का महत्त्व

यह याद रखना चाहिए कि विज्ञान की प्रगति और धार्मिक प्रभाव के ह्रास के बीच कोई निश्चित कार्यकारण-सम्बन्ध नहीं है । यदि ऐसा होता तो जो यूरोप में हुआ है, अर्थात् विज्ञान की प्रगति के साथ धार्मिक प्रभाव का ह्रास, वैसा ही सारे विश्व में होता । लेकिन ऐसा नहीं हुआ ।

इस विषय में भारत अध्ययन का एक रोचक विषय प्रस्तुत करता है । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में एक धार्मिक नवजागरण हुआ था । श्रीरामकृष्ण का जीवन तथा उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ इस नव-जागरण के प्रमुख कारण थे । श्रीरामकृष्ण का जीवन हमारे वर्तमान काल के सबसे निकट है । वह इस बात का प्रमाण है कि यथार्थ धर्म का सम्बन्ध ईश्वर की शाश्वत सत्ता, मानव के साथ उसके सम्बन्ध तथा मानव द्वारा ईश्वर-दर्शन कर ज्ञानालोक प्राप्त करने की सम्भावना

से है। ऐसा धर्म सदा ही शक्ति एवं सम्भावनाओं से पूर्ण सनातन धर्म रहा है। विज्ञान की प्रगति ईश्वर की सत्ता को नकार नहीं सकती; क्योंकि ईश्वर है और उसे देखा जा सकता है। विज्ञान इस सत्य को स्वीकार कर परिमार्जित हो सकता है। विज्ञान लोगों को ईश्वर को अधिक सुचारु रूप से समझने की शिक्षा दे सकता है। वह भगवान् को अस्तित्वहीन होने की शिक्षा नहीं दे सकता! वह अपनी भोली अपरिपक्वता में भगवान् को भले ही स्वीकार न करे, पर इससे क्या फर्क पड़ता है?

श्रीरामकृष्ण द्वारा पुनःप्रमाणित सत्य सभी धर्मों के लिए उपयोगी है, भले ही विभिन्न धर्म इस बात को स्वीकार करें या न करें। जब कभी कहीं भी, किसी भी धर्म के किसी व्यक्ति द्वारा भगवद्-दर्शन होता है, तब मतभेदों के बावजूद सभी धर्म इस तथ्य से बल प्राप्त करते हैं।

लेकिन प्रबल स्वाधीन चिन्तन के इस युग में ईश्वर सम्बन्धी मूलभूत एवं उदार सत्यों के बदले जब कोई धर्म ऐसे मत-मतान्तरों में व्यस्त हो जाता है, जो आध्यात्मिक नहीं हैं, तो वह धर्म निश्चित ही स्वयं को दुर्बल करता है और अपने प्रभुत्व को अधिकाधिक खो बैठता है।

सांसारिक मामलों में अत्यधिक उलझे रहने के कारण धर्म अपना प्रभुत्व खो देता है। ऐसा करने से वह ऐसे सन्तों को पैदा करने में असमर्थ हो जाता है, जो दावे के साथ कह सकें, "ईश्वर है; मैंने उसे देखा है।" लेकिन जब वह धर्म इन बेड़ियों से मुक्त हो, भगवत्-सत्ता के साक्षात् अनुभव में रुचि लेना आरम्भ करता है, तब जो शक्तियाँ उसकी विरोधी प्रतीत होती थीं, वे ही उसकी सहायक हो जाती हैं।

श्रीरामकृष्ण के भारतीय मंच पर आविर्भूत होने से पूर्व हिन्दू धर्म की वही स्थिति थी, जो आज विदेशों में अन्य धर्मों की है। हिन्दू धर्म ने अपनी पुरातन प्रभुता खो दी थी तथा सभी ओर से—ईसाई मिशनरियों की ओर से ही नहीं, लेकिन स्वयं हिन्दुओं की ओर से भी—उस पर चुनौतियों की बौछारें हो रही थीं। विज्ञान के दो पृष्ठ पढ़नेवाले लोग भी पुरातन आस्थाओं को चुनौती दे रहे थे। लोग ईसाई धर्म में मुक्ति की खोज कर रहे थे, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता था कि ईसाई मिशनरी तथा नवीन विज्ञान दोनों के पश्चिम से आने के कारण उनमें कहीं न कहीं कोई सम्बन्ध है।

लेकिन पुरातन धर्म के संस्थापक एवं अनुप्राणन-कर्ता के रूप में श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव से हिन्दू धर्म को अपनी प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त हुई तथा भारत ने धार्मिक पुनर्जागरण का अनुभव किया। सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि इस पुनर्जागरण के साथ विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन एवं बौद्धिक गतिविधियों में एक महान् उत्कर्ष हुआ। धर्म और विज्ञान के बीच कोई झगड़ा नहीं हुआ, क्योंकि धर्म ने विज्ञान का स्वागत किया और विज्ञान ने ईमानदारी से धर्म के प्रमाणित सत्यों का आदर किया।

एक विचित्र संयोग से भारत में वैज्ञानिक गवेषणाओं के प्रणेता एवं भारतीय विज्ञान प्रगति संघ (Indian Association for the Cultivation of Science) के संस्थापक, डा० महेन्द्रलाल सरकार, श्रीरामकृष्ण के चिकित्सक के रूप में उनके सम्पर्क में आये। ये डाक्टर स्पष्टवादी अति-युक्तिवादी एवं विज्ञान के कट्टरतम उपासक थे। भौतिक विज्ञान के अनुसन्धानों एवं उसके आधुनिकतम आविष्कारों

की जानकारी सामान्य जनता को देने के एकमात्र उद्देश्य से उन्होंने अपनी आय का एक बड़ा हिस्सा इस संघ की स्थापना एवं परिचालना के लिए व्यय किया था।

एक चिकित्सक की हैसियत से श्रीरामकृष्ण को देखने आकर डा० सरकार उनके तथा भक्तों के संग घण्टों बिता देते थे। इन अवसरों पर कई धार्मिक विषयों पर खुलकर वार्तालाप होता था। ऐसे भी अवसर आते थे, जब वे अपने वैज्ञानिक, सजग मन द्वारा दूसरों में हो रही आध्यात्मिक अनुभूतियों को देखते थे। वे श्रीरामकृष्ण के उपदेशों को भी सुनते थे, जहाँ वे अपने आध्यात्मिक जीवन के तथ्यों तथा प्रत्यक्ष हुई अनुभूतियों का वर्णन करते थे। अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण का लेशमात्र त्याग किये बिना डा० सरकार ने स्वीकार किया था कि श्रीरामकृष्ण के उपदेश हृदयस्पर्शी[1] होते हैं। उन्होंने यह भी स्वीकार

---

१. डा० सरकार ने एक दिन श्रीरामकृष्ण की उपस्थिति में भक्तों से कहा— "तुलनात्मक जीवशरीर-विद्या (Anatomy) से कितना उपकार हुआ है, सुनो! पहले पाचनशक्ति पैदा करनेवाले रस और पित्त का भेद समझ में नहीं आ रहा था। फिर क्लाड बरनार्ड ने खरगोश के यकृत आदि की परीक्षा करके देखा कि पित्त और उस रस की क्रिया में अन्तर है। इससे सिद्ध होता है कि छोटे-छोटे प्राणियों की ओर भी हमें ध्यान देना चाहिए। केवल मनुष्य को देखने से काम न चलेगा।

"इसी तरह तुलनात्मक धर्म से भी बड़ा उपकार होता है।

"ये (श्रीरामकृष्ण) जो कुछ कहते हैं, हृदय पर उसका असर अधिक क्यों होता है? सब धर्म इनके देखे हुए हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, वैष्णव, शाक्त, सब धर्मों को इन्होंने स्वयं साधना करके देखा है। मधुमक्खी जब अनेक फूलों से मधु संचय करती है तभी उसके छत्ते में अच्छा मधु तैयार होता है।"

(द्रष्टव्य : 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', तृतीय भाग,१९८०, पृष्ठ ३६२)

किया था कि श्रीरामकृष्ण के आध्यात्मिक अनुभवों की सत्यता अस्वीकार नहीं की जा सकती ।[२]

---

२. एक दूसरे अवसर पर अपने रोगी श्रीरामकृष्ण की जांच करने के बाद डा० सरकार श्रीरामकृष्ण से बातचीत करने का आनन्द लेने के लिए रुक गये तथा अन्त में स्वाभाविक ही पूछ बैठे, "क्या आज गाना नहीं होगा ?" युक्तिवादी डा० सरकार की भजनों के लिए यह विनती आश्चर्यजनक थी । श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र को गाने के लिए कहा ।

नरेन्द्र हाथ में तानपूरा लिये हुए गा रहे हैं । आज बाजा भी बज रहा है ।

गाना– हे दीनों के शरण ! तुम्हारा नाम बड़ा सुन्दर है ।
हे प्राणों में रमण करनेवाले ! अमृत की धारा
बरस रही है । कर्ण शीतल बन जाते हैं. . . ।

नरेन्द्र फिर गा रहे हैं —

गाना– माँ ! मुझे पागल कर दे । ज्ञान और विचार की अब कोई
आवश्यकता नहीं है ।

गाने के बाद ही इधर अद्भुत दृश्य दिखाई देने लगा—भावावेश में सब लोग पागल हो रहे हैं । पण्डित अपने पाण्डित्य का अभिमान छोड़कर खड़े हो गये । कह रहे हैं — 'माँ, मुझे पागल कर दे, ज्ञान और विचार की अब कोई आवश्यकता नहीं है ।'

सबसे पहले आसन छोड़कर भावावेश में विजय खड़े हुए, फिर श्रीरामकृष्ण । श्रीरामकृष्ण देह की कठिन असाध्य व्याधि को बिलकुल भूल गये हैं । सामने डाक्टर हैं । वे भी खड़े हो गये । न रोगी को होश है, न डाक्टर को । छोटे नरेन्द्र और लाटू दोनों को भावसमाधि हो गयी । डाक्टर ने साइन्स (विज्ञान) पढ़ी है, परन्तु यह विचित्र अवस्था देखते हुए वे अवाक् हो रहे हैं । देखा, जिन्हें भावावेश है उनमें बाह्यज्ञान बिलकुल नहीं रह गया । सब के सब स्थिर और निस्पन्द हो रहे हैं । भाव का उपशम होने पर कोई हंस रहे हैं, कोई रो रहे हैं, मानो कुछ मतवाले इकट्ठे हो गये हों ।

यह पूछा जा सकता है कि डा० सरकार ने आध्यात्मिक अनुभवों की सत्यता को बिना स्वयं अनुभव किये कैसे जाना ? अगर यह मान भी लें कि डा० सरकार को स्वयं कोई आध्यात्मिक अनुभूति नहीं हुई थी——जिस मान्यता का कोई प्रमाण नहीं है,——तो यह कहा जा सकता है कि डा० सरकार ने जिन लोगों में आध्यात्मिक अनुभूतियाँ होते देखा था, वे अन्य सभी प्रकार से विश्वासपात्र थे । अतः उनके प्रमाणों को वे विश्वसनीय मान सके थे ।

श्रीरामकृष्ण ने अपने जीवन द्वारा जिन तथ्यों को सिद्ध एवं प्रदर्शित किया है, वे धर्म और विज्ञान दोनों के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने में समर्थ हैं । हम उन सभी सम्भावनाओं को फिलहाल नहीं जान सकते । लेकिन जो होने लगा है, उससे भविष्य की सम्भावनाओं का संकेत प्राप्त होता है ।

सन् १८९३ ईसवी में शिकागो में एक धर्ममहासभा का आयोजन किया गया था । यह धर्मसभा क्रिस्टोफर कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज की चतुर्थ शताब्दी मनाने के लिए आयोजित विश्व-मेले का एक अंग थी ।

इस घटना के बाद लोगों ने आसन ग्रहण किया । रात के आठ बज गये हैं । फिर बातचीत होने लगी ।

श्रीरामकृष्ण (डाक्टर से)——यह जो भाव तुमने देखा, इसके सम्बन्ध में तुम्हारी साइन्स क्या कहती है ? तुम्हें क्या यह जान पड़ता है कि यह सब ढोंग है ?

डाक्टर (श्रीरामकृष्ण से)——जहाँ इतने आदमियों को ऐसा हो रहा है, वहाँ तो स्वाभाविक ही जान पड़ता है; ढोंग नहीं मालूम होता ।

(द्रष्टव्य : वही, पृष्ट ३७५–६)

भौतिक विज्ञान एवं तकनीकी की सहायता से पाश्चात्य मनीषियों द्वारा उपलब्ध ज्ञान एवं प्रगति को प्रकाश में लाना इस मेले का एक उद्देश्य था। चूँकि धर्म भी मानव-सभ्यता का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, अतः मेले के साथ एक धर्म-सम्मेलन का भी आयोजन किया गया था।

निश्चय ही इस प्रदर्शिनी ने अभूतपूर्व रूप से भौतिक विज्ञान की प्रगति एवं मानव-सभ्यता में उसके योगदान को प्रकट किया। लेकिन एक दूसरी अप्रत्याशित बात भी हो गयी। स्वामी विवेकानन्द की धर्म की व्याख्या से धर्म भी उतनी ही अच्छी तरह से प्रकाशित हो गया। श्रोताओं पर पड़े उनके गहरे प्रभाव[3] एवं भौतिक विज्ञान की

३. विश्व-धर्ममहासभा पर पड़ा स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव वस्तुतः धर्म का प्रगतिशील भौतिक विज्ञान के बावजूद पड़ा प्रभाव था। धर्ममहासभा की वैज्ञानिक समिति के अध्यक्ष माननीय श्री मरविन-मेरी स्नेल ने लिखा है : "महासभा एवं अमेरिकन जनता को और किसी धर्मसंघ ने इतने गहरे रूप में प्रभावित नहीं किया है जितना हिन्दू धर्म ने। और हिन्दू धर्म के अति विशिष्ट प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द थे, जो निश्चित रूप से महासभा के सबसे लोकप्रिय एवं प्रभावशाली व्यक्ति थे। वे कई बार धर्मसभा के मंच से एवं वैज्ञानिक समिति, जिसके अध्यक्ष होने का सम्मान मुझे प्राप्त हुआ था, में बोले थे। और सभी अवसरों पर अन्य सभी—ईसाई या इतर—वक्ताओं से अधिक उत्साह के साथ उनका अभिवादन किया गया था। वे जहाँ कहीं भी जाते, लोग उन्हें घेरे रहते तथा उनके प्रत्येक शब्द को सुनने के लिए आतुर रहते। अत्यन्त कट्टर एवं रूढिवादी ईसाई भी स्वीकार करते हैं कि वे सचमुच नरश्रेष्ठ हैं।"

(द्रष्टव्य : The Life of Swami Vivekananda by His Eastern & Western Disciples, १९८९, पृ. ३१६)

क्षमता तथा ऐश्वर्य से प्रभावित लोगों में उनके द्वारा उत्पन्न उत्साह ने दो महत्त्वपूर्ण बातें सिद्ध कर दीं:—

(क) धर्म, लोगों ने जैसा सोचा था उससे अधिक है; एवं

(ख) धर्म की उतनी ही आवश्यकता है जितनी विज्ञान की ।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार धर्म अतीन्द्रिय सत्य के तात्त्विक[४] आधार पर प्रतिष्ठित होते हुए भी भूतकाल की वस्तु नहीं है, अपितु वह विज्ञान को अपने विश्वस्त

---

४. यह दावा करते हुए कि धर्म के देश-कालातीत विषयक उपदेशों में सत्य का विवरण ही है, स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—

"...सभी धर्मों ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि मनुष्य का मन कतिपय क्षणों में इन्द्रियों की सीमाओं के ही नहीं, बुद्धि की शक्ति के भी परे पहुँच जाता है। उस अवस्था में वह उन तथ्यों का साक्षात्कार करता है, जिनका ज्ञान न कभी इन्द्रियों से हो सकता था और न चिन्तन से ही । ये तथ्य ही संसार के सभी धर्मों के आधार हैं । निश्चय ही हमें इन तथ्यों में सन्देह करने और उन्हें बुद्धि की कसौटी पर कसने का अधिकार है । पर संसार के सभी वर्तमान धर्मों का दावा है कि मन को ऐसी कुछ अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त हैं, जिनसे वह इन्द्रिय तथा बौद्धिक अवस्था का अतिक्रमण कर जाता है और उसकी इस शक्ति को वे तथ्य के रूप में मानते हैं ।"

(द्रष्टव्य : 'विवेकानन्द साहित्य', द्वितीय खण्ड, १९७२, पृष्ठ १९४)

साथी के रूप में साथ लेकर विकासोन्मुख भविष्य[५] की ओर बढ़ रहा है।[६]

सन् १९०० ईसवी में हुई पेरिस-महासभा में स्वामी विवेकानन्द एवं सर जगदीश चन्द्र बोस, भारत के ये दो

---

५. धर्म के विकासोन्मुख भविष्य के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द का कथन :

"धार्मिक विचारों को विस्तृत, विश्वव्यापक और असीम होना ही पड़ेगा, और तभी हम धर्म का पूर्ण रूप प्राप्त करेंगे, क्योंकि धर्म की शक्तियों की वास्तविक अभिव्यक्ति तो बस अब शुरू हुई है। लोग कहते हैं—धर्म मर रहा है, आध्यात्मिकता का ह्रास हो रहा है; पर मुझे तो लगता है कि अभी-अभी ये पनपने लगे हैं। एक सुसंस्कृत एव उदार धर्म की शक्ति अभी ही तो सम्पूर्ण मानव-जीवन में प्रवेश करने जा रही है। जब तक धर्म कुछ इने-गिने पण्डे-पादरियों के हाथों में रहा, तब तक इसका दायरा मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर और धर्मग्रन्थों तथा धार्मिक नियमों, अनुष्ठानों और बाह्याचारों तक सीमित रहा। पर जब हम सचमुच आध्यात्मिक और विश्व-व्यापक धरातल पर आ जाएंगे, तब धर्म यथार्थ हो उठेगा, सजीव हो उठेगा, हमारे जीवन का अंग बन जाएगा, हमारी हर गति में रहेगा, समाज की पोर-पोर में भिद जाएगा और तब इसकी शिवात्मक शक्ति पहले कभी भी की अपेक्षा अनन्तगुनी अधिक हो जाएगी।"

(द्रष्टव्य : वही, पृष्ठ २००-१)

६. धर्म के अपने निर्भीक सिद्धान्त में स्वामी विवेकानन्द भौतिक विज्ञानों को भी स्थान देते हैं :

"आज आवश्यकता इस बात की है कि सभी तरह के धर्म परस्पर बन्धुत्व का भाव रखें, क्योंकि अगर उन्हें जीना है तो साथ-साथ, और मरना है तो साथ-साथ। बन्धुत्व की यह भावना पारस्परिक स्नेह और आदर पर आधारित होनी चाहिए, न कि संरक्षणशील, प्रसादस्वरूप किंचित् शुभेच्छा की कृपण अभिव्यक्ति पर, जिसे आज एक धर्म अनुग्रहपूर्ण भाव से दूसरे पर दर्शाते हुए पाया जाता

दिग्गज--एक धर्म और दूसरे विज्ञान के प्रतिनिधि--सम्मिलित हुए थे। इस बात का एक विशेष सांकेतिक महत्त्व है। स्वामीजी ने धर्म-इतिहास के सम्मेलन में तथा डा० बोस ने भौतिक-शास्त्र की अन्तर्राष्ट्रीय सभा के समक्ष भाषण दिये थे। वेदान्त की ओजस्वी व्याख्या से अमेरिकन तथा अँगरेजी श्रोताओं को मुग्ध करनेवाले स्वामीजी डा० बोस का भाषण सुनने गये थे। अपने एक पत्र में उन्होंने सम्मेलन पर डा० बोस के प्रभाव पर प्रसन्नता[७] व्यक्त की

है। एक ओर हैं मानसिक व्यापारों की अध्ययनजन्य धार्मिक अभिव्यक्तियाँ, जो अभाग्यवश आज भी धर्म पर एकाधिकार का पूरा दावा रखती हैं--और दूसरी ओर हैं धर्म की वे अभिव्यक्तियाँ, जिनके मस्तिष्क तो स्वर्ग के रहस्यों में अधिक व्यस्त हैं, किन्तु जिनके चरण पृथ्वी से ही चिपके हैं--मेरा तात्पर्य है तथाकथित भौतिक विज्ञानों से। अब इन दोनों के मध्य इस बन्धुत्व की भावना की सर्वोपरि आवश्यकता है।

"इस सामंजस्य को लाने के लिए दोनों को ही आदान-प्रदान करना होगा, त्याग करना पड़ेगा, यही नहीं, कुछ दुःखद बातों को भी सहन करना पड़ेगा। पर इस त्याग के परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति और भी निखर उठेगा और सत्य के सन्धान में अपने को और भी आगे पाएगा। अन्त में देश-काल की सीमाओं में बद्ध ज्ञान का महामिलन उस ज्ञान से होगा जो इन दोनों से परे हैं, जो मन तथा इन्द्रियों की पहुँच से परे है--जो निरपेक्ष है, असीम है, अद्वितीय है।"

(द्रष्टव्य : वही, पृ. २०१)

७. "यहाँ पेरिस में सभी देशों के महापुरुष अपने-अपने देश के गौरव की घोषणा करने के लिए एकत्र हुए हैं। यहाँ वे विद्वान् घोषित किये जाएँगे, जिसकी प्रतिध्वनि उनके राष्ट्रों को गौरव प्रदान करेगी। विश्व के सभी भागों से आये अद्वितीय लोगों की इस मण्डली में, ऐ मेरी मातृभूमि, तुम्हारा प्रतिनिधि कहाँ है? इस विशाल जनसमुदाय में तुम्हारे लिए एक नवयुवक, तुम्हारा एक साहसी पुत्र खड़ा हुआ,

थी । स्वामीजी का विज्ञान की प्रगति के प्रति उत्साह विज्ञान के प्रति धर्म के भारतीय दृष्टिकोण का दिग्दर्शन कराता है ।

डा० जगदीश चन्द्र बोस का शुद्ध भौतिकी के क्षेत्र में श्रेष्ठतम योगदान है ।[८] बाद में वे शुद्ध भौतिकी से हटकर

जिसके शब्दों ने श्रोतृमण्डली को चमत्कृत कर दिया तथा जो उसके समस्त देशवासियों को आनन्द प्रदान करेंगे । यह साहसी पुत्र धन्य है, और धन्य है इसकी सती साध्वी सहधर्मिणी जो सदा उसका साथ देती है ।"

(पेट्रिक गेडेस कृत Life and Work of Sir Jagadis C. Bose, १९२०, पृष्ठ. २०)

एक बार एक विशिष्ट मण्डली में एक प्रसिद्ध अँगरेज वैज्ञानिक की शिष्या ने कहा कि उसके गुरु एक कुण्ठित कुमुदिनी की वृद्धि पर प्रयोग कर रहे हैं । इस पर स्वामी विवेकानन्द ने सहास्य कहा, "ओह ! यह कुछ नहीं है । बोस उस कुमुदिनी के गमले तक को प्रस्फुटित कर देंगे !"

(द्रष्टव्य : Life of Swami Vivekananda, वही १९४९, पृष्ठ ३०१)

८. विज्ञान को डा० बोस की देन निम्न प्रकार से लिपिबद्ध है :

भारतीय भौतिक-शास्त्री । इन्होंने लिवरपूल में ब्रिटिश असोसियेशन के समक्ष सन् १८९६ ई. में सर्वप्रथम विद्युत्-तरंगों के गुणों का अध्ययन करने के लिए एक यंत्र का प्रदर्शन किया, जो परवर्ती काल में बेतार-प्रणाली में उपयोग किये जानेवाले अनुकलक यंत्र (Coherer) से बिलकुल मिलता-जुलता था । इन्होंने विद्युत्-तरंगों के अपवर्तन, परावर्तन एवं ध्रुवण के नियमों का सत्यापन करने के लिए एक यंत्र का भी आविष्कार किया था ।

जीवन्त मांसपेशी के ग्राहक की प्रतिक्रिया में समानान्तरता के आविष्कार ने इन्हें पशु-शरीर के अंगों एवं जड़ पदार्थों में विभिन्न

वनस्पति-विज्ञान के क्षेत्र में अनुसन्धान करने लगे थे, जिसमें उन्होंने अद्भुत आविष्कार किये। धातु, वनस्पतियों एवं पशुओं की प्रतिक्रियाओं में साम्य दिखाना बोस की एक अत्याश्चर्यजनक खोज है। १० मई १९०१ ई. को रॉयल इन्स्टीट्यूट के समक्ष भाषण देते हुए बोस ने अपने विगत चार वर्षों के अनुसन्धानों के परिणामों का वर्णन किया एवं बहुत से प्रयोगों की सहायता से प्रत्येक का प्रमाण प्रस्तुत किया। अपने भाषण में उन्होंने कुछ बातें कहीं, जो प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित हैं। उन्होंने कहा—

"मैंने इस सन्ध्या आपके समक्ष जड़ एवं चेतन पदार्थों पर तनाव एवं श्रम के परिणाम के इतिहास के हस्ताक्षरों का ब्यौरा प्रस्तुत किया है। ये हस्तलिपियाँ कितनी समान हैं! इनमें इतना साम्य है कि एक को दूसरे से पृथक् करना कठिन है। हमने प्रतिक्रिया की लहर को एक की तरह दूसरे में भी उठते एवं गिरते देखा है। हमने देखा कि प्रतिक्रिया श्रान्ति से क्षीण एवं उत्तेजक पदार्थों से प्रबल हो जाती है। वह जड़ एवं चेतन दोनों में विष द्वारा नष्ट हो जाती है।

"इस प्रकार की घटनाओं में ऐसी सीमा-रेखा कैसे खींची जा सकती है कि यहाँ तक भौतिक पदार्थ है तथा

प्रकार की उत्तेजनाओं से होनेवाली प्रतिक्रियाओं के अध्ययन की दिशा में प्रेरित किया। श्रमसाध्य गवेषणाओं के बाद इन्होंने विभिन्न वैज्ञानिक संघों को सन्तुष्ट करते हुए यह सिद्ध किया कि पौधों की जीवन-क्रिया पशुओं के सदृश ही है। इनका क्रिस्कोग्राफ (Crescograph) नामक वृद्धिमापक यंत्र छोटी सी वृद्धि को एक करोड़ गुना आवर्धित कर सकता है।

(द्रष्टव्य : The Encyclopaedia Britannica, १९२९, खण्ड ३, पृष्ठ ९२६)

इसके आगे शरीर-क्रिया प्रारम्भ होती है ? ऐसी स्पष्ट सीमा-रेखाएँ सम्भव नहीं हैं ।

"क्या ये परिणाम पदार्थ के किसी सामान्य एवं सदा विद्यमान गुण को प्रकट नहीं करते ? क्या ये यह नहीं बताते कि चेतन वस्तुओं में दिखाई देनेवाली प्रतिक्रियाओं का इंगित जड़ पदार्थों में भी दिखाई देता है ? तथा यह कि शरीर-क्रिया सम्बन्धी (Physiological) गुण भौतिक एवं रासायनिक प्रतिक्रियाओं के साथ सम्बन्धित हैं ? क्या ये यह नहीं बताते कि इन लोगों की यह शृंखला बीच में विखण्डित नहीं है, बल्कि उसमें नियम का एक निरन्तर एवं समरस प्रवाह बना हुआ है ?

"यदि ऐसा है तो हम नये उत्साह के साथ ऐसे रहस्यों के अन्वेषण में अग्रसर होंगे, जिन्हें हम अभी तक समझ नहीं पाये हैं; क्योंकि विज्ञान की प्रगति का प्रत्येक नया चरण विरोधी एवं असम्बद्ध तथ्यों को एक नये एवं सुसम्बद्ध सिद्धान्त में समावेश करने के साथ होता है। उसकी प्रगति सदा आपात-विरोधी सिद्धान्तों की स्पष्टतर आधारभूत एकता की दिशा में होती है ।

"जब मैंने इन स्वनिर्मित प्रमाणों के मूक साक्षी को पाया एवं सर्वव्यापी एकत्व, जो अपने में सभी पदार्थों का समावेश करता है, के एक पक्ष को देखा---प्रकाश की लहरों में कम्पित हो रहे कण को, प्राणियों के चातुर्य से परिपूर्ण पृथ्वी को एवं हमारे ऊपर चमकते ज्योतिर्मय सूर्यों को,---तब मैं अपने पूर्वजों द्वारा तीस शताब्दी पूर्व गंगातट पर उद्घोषित सन्देश को पहली बार थोड़ा बहुत समझ सका था---'इस जगत् की समस्त विविधताओं में एकत्व

का दर्शन करनेवाले ही चरम सत्य के अधिकारी होते हैं, अन्य कोई नहीं ।' "[१]

यहाँ प्रगतिशील प्रायोगिक विज्ञान धार्मिक प्रभाव के ह्रास के कारण के रूप में दिखाई नहीं दे रहा है, बल्कि हम उसे धर्म के प्रभाव की वृद्धि का यथार्थ आधार प्रस्तुत करते हुए पाते हैं ।

डा० बोस ने दिसम्बर सन् १९१९ ईसवी में इण्डिया हाउस, लन्दन में वैज्ञानिकों की एक प्रतिनिधि सभा के समक्ष अपने नवीनतम आविष्कारों के सम्बन्ध में एक भाषण दिया था । इसमें उन्होंने अपने प्रयोगों के अनेक परिणामों को बताया एवं Magnetic Crescograph (चौम्बकीय क्रिस्कोग्राफ) नामक एक यंत्र की शक्तियों का प्रदर्शन किया, जो उपस्थित लोगों के लिए वैज्ञानिक प्रयोगों से प्राप्त ज्ञान के विस्तार का आश्चर्यजनक सत्योद्घाटन था ।

प्रोफेसर जे० आर्थर टामसन ने 'New Statesman' में एक लेख में लिखा—

"यह भारत की प्रतिभा के अनुरूप ही है कि अनुसन्धानकर्ता ऐसे एकत्व की ओर बढ़े, जिसका संकेत हम अभी तक नहीं दे पाये हैं । यह ठीक ही है कि वह चेतन एवं अचेतन पदार्थों की प्रतिक्रिया एवं स्मृति-चिह्नों का सम्बन्ध खोजने का प्रयत्न करे तथा भौतिक शास्त्र, शरीर-क्रिया-शास्त्र एवं मनोविज्ञान को एक दूसरे के निकट आते एवं अन्त में मिश्रित होते हुए देखने का पूर्वानुमान करे । ये

१. द्रष्टव्य : पेट्रिक गेडेस : वही, १९२०, पृष्ठ ९६-९७ ।

उन अनुसन्धानकर्ताओं के युवराज के प्रश्न हैं, जिनका अपने बीच स्वागत करने का हमें गर्व है।"[१०]

भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि शरीर-क्रिया विज्ञान के क्षेत्र में अपने योगदान की मान्यता स्वरूप डा० बोस को मई सन् १९२० ईसवी में रॉयल सोसायटी की सदस्यता द्वारा सम्मानित किया गया। यह इस बात का प्रमाण था कि विश्व के वैज्ञानिक उनके अनुसन्धानों से अत्यधिक प्रभावित हुए थे।

डा० बोस जीवन भर एक सच्चे वैज्ञानिक रहे, इस बात को कोई भी ईमानदार वैज्ञानिक अस्वीकार नहीं सकता। फिर भी अपने वैज्ञानिक ज्ञान की वृद्धि के साथ साथ सारे जीवन आध्यात्मिक संवेदनशीलता की अभिवृद्धि करना भी उनके लिए सम्भव हुआ था। वस्तुतः उन्होंने अपने जीवन से यह प्रमाणित कर दिया कि वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक होने में कोई भेद नहीं है।[११]

(क्रमशः)

○

---

१०. पेट्रिक गेडेस द्वारा उद्धृत, वही, पृष्ठ २४९।

११. कलकत्ता में ३० नवम्बर सन् १९१७ ईसवी को बोस इन्स्टीट्यूट के उत्सर्गीकरण समारोह में दिये गये भाषण में अपने जीवन के सार-संक्षेप का वक्तव्य देते हुए जगदीश चन्द्र बोस ने स्थायी महत्त्व की कुछ बातें कहीं। उनके भाषण के कुछ अंशों को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है, जो यह बताते हैं कि उनके लिए वैज्ञानिक ही आध्यात्मिक और आध्यात्मिक ही वैज्ञानिक था:—

"अपने अनुसन्धानों में मैं अनजाने ही भौतिकशास्त्र एवं शरीर-क्रियाशास्त्र के सीमाक्षेत्र तक पहुँच गया, तथा चेतन एवं अचेतन

की सीमा-रेखाओं के विलीन होते एवं उनके बीच सम्बन्ध के बिन्दुओं को उभरते देख आश्चर्यचकित हो गया। जड़ पदार्थ नितान्त जड़ नहीं था। वह भी अपने पर हो रहे असंख्य शक्तियों के प्रभाव से प्रकम्पित हो रहा था। एक सामान्य प्रतिक्रिया धातुओं, पौधों एवं पशुओं को एक ही नियम के अन्तर्गत ला रही थी। उन सभी में मूलतः एक सी श्रान्ति, दबाव, पुनःस्फूर्ति-प्राप्ति की सम्भावना तथा मृत्यु से सम्बन्धित स्थायी प्रतिक्रियाहीनता की घटनाएँ पायी गयीं। इस महान् सामान्यीकरण से मैं आश्चर्यचकित रह गया; और बड़ी आशा के साथ मैंने प्रयोगों की सहायता से प्रमाणित करते हुए, अपने परिणामों को रॉयल सोसायटी के समक्ष प्रस्तुत किया। लेकिन शरीर-क्रियाशास्त्रियों ने मेरे भाषण के बाद मुझे उनके क्षेत्र में प्रवेश करने देने के बदले भौतिकशास्त्र की गवेषणाओं तक ही अपने को सीमित रखने का सुझाव दिया, जिसमें मेरी सफलता सुनिश्चित थी। इस तरह मैं अनजाने और बिना चाहे एक नयी और अपरिचित जातिप्रथा के दायरे में भटक गया था, जिसके शिष्टाचार का मैंने उल्लंघन कर दिया था। अज्ञान को विश्वास से मिलानेवाला एक अज्ञात सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह भी विद्यमान था। इस बात को भुला दिया गया था कि जो ईश्वर इस सृष्टि के सर्वदा परिवर्धमान रहस्य द्वारा हमें परिव्याप्त किये हुए है, जो अनिवर्चनीय आश्चर्य एक धूलिकण के सूक्ष्म-ब्रह्माण्ड में बृहत् ब्रह्माण्ड के रहस्य को अपने जटिल अणु-परिमाण में छिपाये हुए समाया हुआ है, उसी ने हमारे हृदय में परिप्रश्न करने की इच्छा और समझने की पिपासा भी रोपित की है। इस धार्मिक पूर्वाग्रह के साथ भारतीय मन के रहस्यवाद एवं अबाध कल्पना की ओर स्वाभाविक झुकाव की आशंका भी जुड़ गयी। लेकिन भारत में यह ज्वलन्त कल्पना-शक्ति, जो आपाततः विरोधी तथ्य-समूहों में से नयी सम्बद्धता

खोज निकाल सकती है, भी ध्यान के अभ्यास द्वारा संयत रखी जाती है। यही संयम मन को सत्य की खोज में अनन्त धैर्य रखने, प्रतीक्षा करने, पुनर्विचार करने तथा प्रयोगों द्वारा बारम्बार परीक्षित एवं प्रमाणित करने की शक्ति प्रदान करता है।

"पश्चिमी देशों में आधुनिक विज्ञान के अत्यधिक विशिष्टीकरण के कारण इस मूलभूत सत्य के दृष्टि से अगोचर होने का भय पैदा हो गया है कि सत्य तो, विज्ञान तो एक ही हो सकता है, जो ज्ञान की सभी शाखाओं को अपने में समाविष्ट करता है। प्रकृति की घटनाएँ कितनी असम्बद्ध लगती हैं! क्या प्रकृति वह ब्रह्माण्ड है, जिसमें किसी दिन मानव-मन नियम, शृखला एवं तारतम्य के समरस प्रवाह का अनुभव करेगा ? भारतीय मन स्वभावत: एकत्व के भाव का अनुभव करने तथा दृश्यमान जगत् के पीछे एक सुसम्बद्ध ब्रह्माण्ड को देखने में सक्षम है। इस वैचारिक झुकाव ने मुझे अनजाने ही विभिन्न विज्ञानों की सीमा-रेखाओं तक पहुँचा दिया तथा मेरे कार्य की दिशा को बारी-बारी से सैद्धान्तिक से व्यावहारिक की ओर, तथा अचेतन के अनुसन्धान से चेतन प्राणियों तथा उनकी नाना क्रियाओं, वृद्धि, गति और संवेदन तक के अनुसन्धान की ओर परिचालित किया। विगत तेईस वर्षों के अनुसन्धानों की विभिन्न दिशाओं का सिंहावलोकन करने पर अब मैं उनमें एक स्वाभाविक क्रम पाता हूँ। विद्युत्-तरंगों के अध्ययन के फलस्वरूप अल्पतम लम्बाईवाली विद्युत्-तरंगों को पैदा करने की विधियों का आविष्कार हुआ। उन्होंने दृश्य और अदृश्य प्रकाश के बीच की खाई को पाट दिया। इससे अदृश्य तरंगों के प्रकाशकीय गुणों के विषय में अनुसन्धान, विभिन्न प्रकाश-अपारदर्शी वस्तुओं की वर्तनांक शक्तियों का निर्धारण, वायु की परत के पूर्ण अपवर्तन पर प्रभाव का आविष्कार, तथा विकृत चट्टानों एवं विद्युतीय

टूर्मेलिन के ध्रुवण गुणों का आविष्कार हुआ। सीसाभाश्म निर्मित एक नये प्रकार के स्व-क्षतिपूर्य विद्युतीय आदायक का आविष्कार, बेतार-संकेतों के मण्डल का विस्तार करने के लिए स्फटिक (क्रिस्टल) अभिज्ञापकों के उपयोग का पूर्वगामी था। भौतिकीय रसायनशास्त्र में विद्युत्-उत्तेजना के फलस्वरूप पदार्थ में हुए आणविक परिवर्तन के अभिज्ञान से भाचित्रात्मक क्रिया के एक नये सिद्धान्त का आविष्कार हुआ। स्टीरियो-केमिस्ट्री का फलप्रद सिद्धान्त दो प्रकार के कृत्रिम अणुओं के निर्माण से बलीयान हुआ, जो दो प्रकार की शर्कराओं की तरह ध्रुवीयकृत विद्युत्-तरंगों को दायें या बायें घुमाता था। और पुनः, मेरे प्रमापकों की 'थकान' के फलस्वरूप पदार्थ में सार्वभौमिक रूप से विद्यमान संवेदनशीलता का आविष्कार हुआ, जैसा कि उसकी विद्युतीय प्रतिक्रिया से प्रकट होता है। इसके बाद परिवर्तित परिस्थितियों में इस प्रतिक्रिया के रूपान्तरणों का अध्ययन करना सम्भव हुआ, जिसमें उत्तेजनाओं द्वारा वृद्धि एवं विष द्वारा परिसमाप्ति उसकी सबसे आश्चर्यजनक वाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं। और इस उपयोगी आविष्कार की अनेक प्रयुक्तियों के एक उदाहरणस्वरूप एक कृत्रिम दृष्टिपटल (रैटिना) के गुणों मे मानव में 'द्विभागिक दृष्टि परिवर्तन' के अप्रत्याशित आविष्कार का संकेत प्राप्त हुआ;—अर्थात् दोनों नेत्र एक दूसरे को वारी-बारी से परिपूरित करते हैं, एक साथ जुते हुए युग्म (जोड़ी) के रूप में नहीं, जैसा कि अब तक विश्वास किया जाता था।"

(द्रष्टव्य : वही, पृ. २२८-२९, २३६-३७)

तस्माद् योगी भवार्जुन

(गीताध्याय ६, श्लोक ३७-४७)

स्वामी आत्मानन्द

अर्जुन उवाच--

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।।६/३७।।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ।।६/३८।।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।।६/३९।।

अर्जुन (अर्जुन) उवाच (बोला)—

कृष्ण (हे कृष्ण) श्रद्धया (श्रद्धा से) उपेतः (युक्त) अयतिः (यत्न से हीन) योगात् (योग से) चलितमानसः (जिसका मन उखड़ गया है वह) योगसंसिद्धिम् (योग की चरम सिद्धि को) अप्राप्य (न प्राप्त होकर) कां (किस) गतिं (गति को) गच्छति (प्राप्त होता है) ।

"अर्जुन ने पूछा--कृष्ण, जो श्रद्धा से युक्त है (किन्तु) जिसका मन योग से उखड़ गया है, ऐसा प्रयत्न को छोड़ देनेवाला पुरुष योग की चरम सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है ?"

महाबाहो (हे महाबाहो) ब्रह्मणः (ब्रह्म के) पथि (मार्ग में) विमूढः (मोहित हुआ) अप्रतिष्ठः (आश्रयरहित पुरुष) उभयविभ्रष्टः (दोनों ओर से भ्रष्ट होकर) कच्चित् (क्या) छिन्नाभ्रम् (छिन्न-भिन्न बादल की) इव (भाँति) न नश्यति (नष्ट तो नहीं हो जाता है) ।

"हे महाबाहो, ब्रह्म (की प्राप्ति) के मार्ग में विमूढ़ होने के कारण (वह) आश्रयरहित (पुरुष) कहीं दोनों ओर से भ्रष्ट होकर छिन्न-भिन्न बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता ?"

कृष्ण (हे कृष्ण) मे (मेरे) एतत् (इस) संशयम् (संशय को) अशेषतः (पूरी तरह से) छेत्तुम् (छेदन करने में) अर्हसि

(योग्य हैं) हि (क्योंकि) त्वदन्यः (आपके सिवाय दूसरा) अस्य (इस) संशयस्य (संशय का) छेत्ता (छेदन करनेवाला) न उपपद्यते (मिलना सम्भव नहीं है)।

"हे कृष्ण, मेरे इस संशय को (आप ही) पूरी तरह से छेदन करने में समर्थ हैं, क्योंकि आपके सिवाय इस संशय का छेदन करनेवाला कोई दूसरा (उपयुक्त पात्र) मिलना सम्भव नहीं है।"

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से सुना कि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को वश में किया जा सकता है। यह भी उसने जाना कि सयमी, जो उपाय जानकर यत्न करता है, योग की उस स्थिति को प्राप्त करने में समर्थ होता है। पर उसके मन में प्रश्न उठता है कि कोई योग-साधना में निरन्तर न भी लगा रह सकता है, वह मन के न लगने के कारण योग से उखड़ भी सकता है। ऐसी दशा में स्वाभाविक ही वह योग के लक्ष्य से च्युत हो जाएगा। किन्तु उसकी श्रद्धा उस मार्ग पर बनी हुई है। प्रयत्न को छोड़ देनेवाला ऐसा व्यक्ति किस गति को प्राप्त होता है?

कहीं ऐसा तो नहीं होता कि 'इतो नष्ट : उतो भ्रष्ट :' वाली कहावत उस पर चरितार्थ होती है? ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में वह मोहित हो जाने के कारण भटक गया है, न तो योग-मार्ग का राही रहा और न दुनिया का ही बनकर रह पाया। 'माया मिली न राम' का उदाहरण बनकर रह गया। न इधर का रहा, न उधर का। संसार छोड़कर योग का रास्ता पकड़ा था। अब योग का पथ त्याग देने के कारण, संसार और योग दोनों से विमुख हो जाने के फलस्वरूप, कहीं वह कटे हुए बादल के छोटे टुकड़े की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? संसार में रहता तो कम से कम दुनियादारी का मजा लेता। अगर योग-मार्ग पर

टिका रहता तो योग के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता था। पर अब उसका क्या होगा ?

यह अर्जुन का प्रश्न है। उसका यह संशय बहुत सही है। योग का रास्ता सरल नहीं है। उसमें बड़ी फिसलन है। पग पग पर मन कठिनाइयाँ खड़ी करता रहता है। वह अपने संशय का निरसन श्रीकृष्ण से चाहता है। उसे पूरा विश्वास है कि कृष्ण पूरी तरह से उसके संशय को मिटाने में समर्थ हैं और यह भी विश्वास है कि कृष्ण को छोड़ अन्य कोई भी व्यक्ति उसके इस संशय को दूर नहीं कर सकता। अर्जुन की सबसे बड़ी सम्पत्ति उसका श्रीकृष्ण के प्रति यह दृढ़ विश्वास है।

भगवान् कृष्ण उसके प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं——

श्रीभगवानुवाच——

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥६/४०॥

श्रीभगवान् (श्री भगवान्) उवाच (बोले)——

पार्थ (हे पृथापुत्र) तस्य (उसका) न (न) एव (ही) इह (इस लोक में) न (न) अमत्र (परलोक में) विनाश: (नाश) विद्यते (होता है) हि (क्योंकि) तात (हे भाई) कल्याणकृत् (कल्याण करनेवाला) कश्चित् (कोई भी) दुर्गति (दुर्गति को) न (नहीं) गच्छति (प्राप्त होता है)।

"हे पृथापुत्र, उसका न तो इस लोक में (और) न परलोक में ही विनाश होता है; क्योंकि हे भाई, कल्याण करनेवाला कोई भी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है।"

अर्जुन जितनी स्पष्टता से उत्तर की अपेक्षा करता रहा होगा, भगवान् वैसा ही उत्तर प्रदान करते हैं।

उनके उत्तर में कहीं पर कोई सन्दिग्धता नहीं है। अर्जुन को लगा था कि योग-साधना में यदि कोई यथोचित संयम के अभाव में न टिक पाया, तो उसके लोक-परलोक दोनों कहीं नष्ट तो न हो जाएँगे ? भगवान् कहते हैं—नहीं, उसका कहीं विनाश नहीं है; कल्याण करनेवाले की कभी दुर्गति नहीं होती है। भगवान् कृष्ण अर्जुन को अन्यत्र बता ही चुके हैं—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' (२।४०)—'इस धर्म (योग, निष्काम कर्मयोग) का थोड़ा सा भी अनुष्ठान महान् भय से रक्षा करता है।'

श्रीकृष्ण यहाँ पर 'कल्याणकृत्' शब्द का प्रयोग करते हैं। प्रश्न उठता है कि जो योग-साधना में लगा हुआ है, उसे क्या 'कल्याण करनेवाला' कहा जा सकता है ? वह तो अपने ही कल्याण में लगा है, तो क्या यहाँ पर आत्म-कल्याण अर्थ विवक्षित है ? इसका उत्तर है—"हाँ।" जो अपने कल्याण में लगा है, वह प्रकारान्तर से समाज का भी कल्याण करता है। योग-साधन में लगा हुआ पुरुष दुराचारी नहीं होता, वह दूसरों के लिए सन्ताप का कारण नहीं बनता। वह राग-द्वेष से अपने को मुक्त करने की चेष्टा करता है, इसलिए सर्वत्र प्रेम के स्पन्दन बिखेरने का ही उसका प्रयास होता है। और जो लोगों में घृणा के बदले प्यार फैलावे, वह तो सही मायनों में समाज का कल्याण करता है। ऐसा व्यक्ति यदि किसी प्रलोभन या यथोचित संयम के अभाव अथवा अरुचि के कारण योग का पथ छोड़ भी दे, तो भले ही योग का लक्ष्य वह प्राप्त न कर सकेगा, पर जो कुछ शुभ उसने किया है, योग के मार्ग पर जहाँ तक आगे बढ़ा

है, वह सुरक्षित बना रहेगा, उसका नाश नहीं होगा—यह भगवान् कृष्ण स्पष्ट शब्दों में बतला दे रहे हैं।

अर्जुन ने पूछा था कि ऐसा व्यक्ति योग की चरम सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है? इससे ध्वनित होता है कि अर्जुन उसकी मृत्यूपरान्त गति के सम्बन्ध में ही पूछ रहा है—मरने के पश्चात् उसकी किसी प्रकार दुर्गति तो नहीं होती? और भगवान् का उत्तर भी अर्जुन के इस आशय को पुष्ट करता है। वे कहते हैं कि इस लोक या परलोक में उसका कहीं विनाश नहीं है, उसकी कोई दुर्गति नहीं है। आचार्य शंकर के अनुसार, 'नाशो नाम पूर्वस्माद् हीनजन्मप्राप्तिः स योगभ्रष्टस्य न अस्ति'—अर्थात् 'नाश का अर्थ होता है पहले की अपेक्षा हीन जन्म की प्राप्ति। सो योगभ्रष्ट व्यक्ति की ऐसी अवस्था नहीं होती।' जहां भी उसका जन्म होता है, पहले की अपेक्षा उसमें किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं होती। यहां पर भगवान् की घोषणा ध्यान देने योग्य है—'न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति'—'हे तात, कल्याण करनेवाला कोई भी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है।' कैसी विलक्षण आश्वासन-वाणी है यह भगवान् की! यह शुभकर्मियों के लिए प्रेरणा का अजस्त्र स्रोत है।

यहाँ पर श्रीकृष्ण अर्जुन को 'तात' कहकर पुकारते हैं। 'तात' शब्द पिता, पुत्र, शिष्य—जहाँ भी घनिष्ठ स्नेह-सम्बन्ध हो वहाँ प्रयुक्त होता है। इससे अर्जुन के प्रति भगवान् का असीम स्नेह प्रकट होता है।

प्रश्न उठता है—ठीक है यह तो जान लिया कि शुभ-कर्मी का विनाश नहीं होता है, पर मरणोपरान्त उसकी

गति क्या होती है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् अगले पाँच श्लोकों में प्रदान करते हैं।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥६/४१॥

योगभ्रष्टः (योग से भ्रष्ट व्यक्ति) पुण्यकृतां (पुण्यवानों के) लोकान् (लोकों को) प्राप्य (प्राप्त होकर) शाश्वतीः (बहुत) समाः (वर्षों तक) उषित्वा (वास करके) शुचीनां (शुद्ध आचरण-वाले) श्रीमतां (श्रीमान् पुरुषों के) गेहे (घर में) अभिजायते (जन्म लेता है) ।

"योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों को (अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकों को) प्राप्त होकर, वहाँ बहुत वर्षों तक निवास करके फिर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है ।"

'योगभ्रष्ट' वह है, जो यथोचित मनःसंयम के अभाव में या अन्य किसी कारणवश जीवन के अन्तकाल में योग के लक्ष्य से विचलित हो गया हो। पर उसके मन में योग के प्रति श्रद्धा बनी रहती है। वह जब मृत्यु को प्राप्त होगा, तो स्वर्गादि उत्तम लोकों को जाएगा, जो पुण्यवानों को प्राप्त होता है। इस मर्त्यलोक से ऊपर ब्रह्मलोक तक के सभी लोक पुण्यवानों के लोक कहे जाते हैं, क्योंकि व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् अपने किये पुण्यों के अनुसार इन लोकों को प्राप्त होता है। वहाँ वह योगभ्रष्ट बहुत काल तक निवास कर भोगों का सुख भोगता है और जब उसके पुण्यों का फल समाप्त होता है, तब वह शुद्ध आचरणवाले श्रीमन्तों के घर जन्म लेता है।

यहाँ कुछ प्रश्न खड़े होते हैं। पहला तो यह कि वह योगभ्रष्ट परमार्थ का साधन कर रहा था। उसका उद्देश्य केवल परमात्मा की प्राप्ति ही था। तात्पर्य यह कि उसकी

साधना निष्काम थी। स्वर्गादि भोग तो मनुष्य को अपने सकाम पुण्यों के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। फिर उसे किस कामना के फलस्वरूप पुण्यवानों का लोक प्राप्त हुआ ?

इसके उत्तर में कहा जाता है कि योग-साधना से विच्युति के पीछे उसकी कोई वासना ही तो रहती है। यदि साधन-पथ से मन उखड़ जाय, तो इस उखड़ने का भी तो कोई कारण होगा। जब तक उसमें लौकिक सुख-भोग की वासना नहीं जागेगी, तब तक वह परमार्थ-पथ का त्याग भला क्योंकर करेगा ? यही उसकी वह वासना है, जो उसे स्वर्गादि लोक ले जाती है। फिर जीवन भर उसने जो साधन का निष्काम होकर अनुष्ठान किया है, वह तो किसी भी बड़े से बड़े पुण्य से भी महान् है। योगभ्रष्ट जब हुआ है, तब तात्पर्य ही यह है कि मन के किसी कोने में भोग-वासना छिपी है। उसके पास पुण्य भी हैं और कामना भी है। दोनों का मेल उसे स्वर्ग-सुख प्रदान करता है।

दूसरा प्रश्न उठता है कि वह स्वर्ग में अपने कितने पुण्यों का भोग करता होगा और कितना उसके साधन-खाते बचा रहता होगा ?

इस प्रश्न का उत्तर गणित के रूप में तो नहीं दिया जा सकता, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसकी वासना की तीव्रता के अनुपात से उसका स्वर्ग में निवास-काल निश्चित होता है। यदि उसकी भोगासक्ति अधिक थी, तो वह उतना ही अधिक काल स्वर्ग में बिताता है। और यदि कम थी, तो उसी अनुपात में कम समय वहाँ गुजारता है। जब पुण्य इतने कम हो जाते हैं कि उनका भोग पार्थिव शरीर में किया जा सकता है, तब वह सच्चरित्र धनवान्

के घर में जन्म लेता है। यदि योगभ्रष्ट के अन्तःकरण में अन्तिम समय में भोगासक्ति न हो, भले ही किसी दोष के कारण वह योगसाधन से च्युत हो गया हो, पर उसकी श्रद्धा और वैराग्य का भाव ठीक बना हुआ हो, तब तो वह स्वर्ग न जाकर सीधे ही पवित्र श्रीमन्त के घर जन्म लेगा और यदि वैराग्य की मात्रा अधिक हो तो अगले श्लोक में बताये अनुसार बुद्धिमान् योगियों के कुल में।

तीसरा प्रश्न यह है कि धनी लोगों के घर जन्म लेने से क्या वह योगभ्रष्ट पुरुष भोगों में आसक्त न हो जाएगा ? सम्पन्न लोगों के यहाँ सब प्रकार की भोग-सामग्रियाँ होती हैं। उनके यहाँ जन्म लेने से उसे बचपन से ही भोग का वातावरण मिलेगा। फलतः क्या वह उसकी दुर्गति नहीं होगी ?

इसके उत्तर में कहा जाता है कि जिन धनवानों के घर उसका जन्म होता है, वे शुद्ध और पवित्र आचरण-वाले ('शुचीनाम्') होते हैं। वैसे तो प्राणियों को सताये बिना भोग एकत्र नहीं होता—'नानुपहत्य भूतानि भोगः सम्भवति' (मनु), किन्तु इन धनवानों के यहाँ धन ईमानदारी से आया हुआ होता है और धन का दोष उनके जीवन में नहीं आया होता। धन आने पर गर्व होता है, भोगों में प्रवृत्ति आती है। पर 'शुचीनाम्' कहकर यह सूचित किया गया कि गर्व नहीं है, जीवन में सदाचार बना हुआ है। ऐसे श्रीमन्त दुर्लभ होते हैं। अतः योगभ्रष्ट वहाँ अपनी आध्यात्मिक प्रगति के लिए स्वस्थ और अनकूल वातावरण प्राप्त करता है, उसकी दुर्गति नहीं होती।

चौथा और अन्तिम प्रश्न यह है कि क्या ऐसे पुण्यात्मा योगभ्रष्ट धनी लोगों के घर ही पैदा होते हैं ? क्या ऐसे प्रकरणों में धन और अध्यात्म का साथ साथ रहना जरूरी है ? देखा तो यह जाता है कि बड़े बड़े सन्त, महा-पुरुष दरिद्र की कुटिया में ही पैदा हुए थे ।

इसके उत्तर में कहा जाता है कि नहीं, यह आवश्यक नहीं कि योगभ्रष्ट पुरुष धर्मात्मा श्रीमान् के ही घर जन्म ले, वह तो ऐसे योगियों के कुल में भी जन्म लेता है, जो दरिद्र पर धीमान् होते हैं । बल्कि यहाँ पर भगवान् अगले श्लोक के माध्यम से यह संकेत दे रहे हैं कि साधारण योग-भ्रष्ट तो शुद्धात्मा श्रीमन्तों के यहाँ जन्म लेता है, जबकि आसक्तिरहित उच्च श्रेणी का योगभ्रष्ट निर्धन कुल में बुद्धिमान् योगियों के यहाँ आता है । कहते हैं——

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुलर्भतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।।६/४२।।

अथवा (अथवा) धीमतां (बुद्धिमान्) योगिनाम् (योगियों के) एव (ही) कुले (कुल में) भवति (जन्म लेता है) ईदृशं (इस प्रकार का) यत् (जो) जन्म (जन्म है) एतत् (यह) हि-(निस्संन्देह) लोके (संसार में) दुर्लभतरम् (अधिक दुर्लभ है) ।

"अथवा (वह वैराग्यवान् पुरुष उन लोकों में न जाकर) ज्ञानवान् योगियों के ही कुल में जन्म लेता है । इस प्रकार का जो जन्म है यह निस्सन्देह ससार में अधिक दुर्लभ है ।"

इस श्लोक पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर लिखते हैं——'अथवा श्रीमतां कुलाद् अन्यस्मिन् योगिनाम् एव दरिद्राणां कुले भवति जायते धीमतां बुद्धिमताम्'—— 'अथवा श्रीमानों के कुल से अन्य जो बुद्धिमान् दरिद्र योगियों का कुल है उसमें जन्म लेता है ।' और ऐसे दरिद्र कुल में जन्म लेने को 'दुर्लभतरम्' (अधिक दुर्लभ) कहा

है। इसका तात्पर्य यह कि सच्चरित्र श्रीमन्तों के घर में जन्म लेने की अपेक्षा दरिद्र ज्ञानवान् योगियों के यहाँ जन्म पाना अधिक दुर्लभ है। आचार्य शंकर आगे लिखते हैं--'एतद् हि जन्म यद् दरिद्राणां योगिनां कुले दुर्लभतरं दुःखलभ्यतरं पूर्वम् अपेक्ष्य लोके जन्म यद् ईदृशं यथोक्त-विशेषणे कुले'--'परन्तु ऐसा जो जन्म है, उपर्युक्त दरिद्र आदि विशेषणों से युक्त योगियों के कुल में जो उत्पन्न होना है, वह पूर्व में बतलाये गये इस लोक में श्रीमानों के कुल में उत्पन्न होने की अपेक्षा भी अत्यन्त दुर्लभ है।'

यहाँ पर 'अथवा' शब्द का प्रयोग कर भगवान् कृष्ण योगभ्रष्टों की दो श्रेणियाँ सूचित करते हैं, जिनकी चर्चा हम ऊपर कर आये हैं।

ऐसा योगभ्रष्ट चाहे शुचि-पवित्र धनाढ्य कुल में जन्म ले या दरिद्र ज्ञानवान् योगीकुल में, वह जन्म लेकर करता क्या है यह बतलाते हुए कहते हैं--

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।६/४३।।

कुरुनन्दन (हे कुरुनन्दन) तत्र (वहाँ) तं (उस) पौर्वदेहिकं (पहले शरीर में साधन किये हुए) बुद्धिसंयोगं (बुद्धि के संयोग को) लभते (प्राप्त हो जाता है) च (और) संसिद्धौ (संसिद्धि के लिए) ततः (उससे) भूयः (अधिक) यतते (यत्न करता है)।

"हे कुरुनन्दन, वहाँ (वह) उस पहले शरीर में साधन किये हुए बुद्धि के संयोग को (अर्थात् समत्व-बुद्धियोग के संस्कारों को) प्राप्त हो जाता है और (परमतत्त्व की प्राप्तिरूप) सिद्धि के लिए पहले से भी बढ़कर प्रयत्न करता है।"

यही योगभ्रष्ट की विशेषता है। शुद्धचरित्र धनिकों या दरिद्र, ज्ञानपरायण योगियों के यहाँ जन्म लेने से उसको

विशेषता नहीं है; क्योंकि धनी और पवित्र माता-पिता के यहाँ ऐसे भी लड़के जन्म लेते देखे जाते हैं, जो दुश्चरित्र और दुर्व्यसनी होते हैं। इसी प्रकार बुद्धिमान् योगियों के यहाँ पुत्र भी बुद्धिमान् ही हो यह कोई आवश्यक नहीं है। सन्तों और महापुरुषों के यहाँ कुपुत्र जन्म लेते देखे गये हैं। पर जब योगभ्रष्ट उन लोगों के यहाँ जन्म लेता है, तो वह अपने पूर्वजन्म में किये अभ्यास से प्राप्त बुद्धि को——संस्कारों को——प्राप्त हो जाता है। पिछले जन्म में उसने साधना का सूत्र जहाँ पर छोड़ा था, वह सूत्र वहीं से फिर से पकड़ लेता है और साधना में सिद्धि के लिए पहले से भी बढ़कर प्रयत्न करने लगता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि क्या योगभ्रष्ट अगला जन्म इस प्रकार पाकर साधना में ही लगेगा? वह विषय-भोग की ओर खिचकर भी तो अपने जीवन को गँवा सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं——नहीं, ऐसा योगभ्रष्ट अपने पूर्व जन्म में निर्दिष्ट किये हुए साधन-पथ पर ही आगे बढ़ता है। इसका कारण बतलाते हुए कहते हैं——

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।।६/४४।।

सः (वह) तेन (उस) एव (ही) पूर्वाभ्यासेन (पहले के अभ्यास द्वारा) अवशः अपि (मानो बरबस ही) ह्रियते (खींचा जाता है) हि (निस्सन्देह) योगस्य (योग का) जिज्ञासुः (जिज्ञासु) अपि (भी) शब्दब्रह्म (वेद को) अतिवर्तते (पार कर जाता है)।

"वह उसी पहले (पूर्वजन्म) के अभ्यास द्वारा (मानो) बरबस ही (योग-साधन की ओर) खींचा जाता है। निस्सन्देह (इस) योग का जिज्ञासु भी वेद (में कहे हुए सकाम कर्मों के फल) को पार कर जाता है।"

योगभ्रष्ट अगला जन्म पाने पर यदि योग-साधना में प्रवृत्त न होना चाहे, तो भी वह बरबस ही पूर्वजन्म के साधना के संस्कारों द्वारा योग-साधना की ओर खींच लिया जाता है। आचार्य शंकर यहाँ पर अपने भाष्य में लिखते हैं--'न कृतं चेद् योगाभ्याससंस्काराद् बलवत्तरम् अधर्मादिलक्षणं कर्म तदा योगाभ्यासजनितेन संस्कारेण ह्रियते। अधर्मः चेद् बलवत्तरः कृतः तेन योगजः अपि संस्कारः अभिभूयते एव। तत्क्षये तु योगजः संस्कारः स्वयम् एव कार्यम् आरभते, न दीर्घकालस्थस्य अपि विनाशः तस्य अस्ति इत्यर्थः'--'यदि योगाभ्यास के संस्कारों की अपेक्षा अधिक बलवान् अधर्मादि कर्म न किये हों, तो वह योगाभ्यास-जनित संस्कारों से खिच जाता है और यदि अधिक बलवान् अधर्म किया हुआ होता है, तो उससे योगजन्य संस्कार भी दब ही जाते हैं। परन्तु उस पाप-कर्म का क्षय होने पर वे योगजन्य संस्कार स्वयं ही अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं। बहुत काल तक दबे रहने पर भी इन संस्कारों का नाश नहीं होता।'

इससे यह ध्वनित किया गया है कि योगभ्रष्ट के योग के संस्कार इतने बली होते हैं कि वे अगले जन्म में उसे फिर से योग-साधना में लगाएँगे ही। भले ही वह अपने पुण्यों के फलस्वरूप, अन्तःकरण में छिपी कामना के कारण, स्वर्ग भोगकर सच्चरित्र धनिकों के यहाँ जन्म ले या फिर अपने वैराग्य की प्रबलता के अनुसार स्वर्ग न जाकर सीधे ही उन लोगों के या बुद्धिमान् योगियों के यहाँ जन्म ग्रहण करे, पर उसके पूर्वजन्म के योग के संस्कार जागेंगे ही और वे उसे पुनः, अबकी अधिक तीव्रता के साथ, योग-साधना में नियोजित करेंगे। जैसा कि आचार्य शंकर कहते हैं,

यदि उसके अधर्म के संस्कार योग-संस्कारों की तुलना में दुर्बल हैं, तो वे धीरे-धीरे, छोटे-मोटे अशुभ फल देकर, नष्ट हो जाएँगे, पर वे उसकी साधना में विघ्न न डाल सकेंगे। और यदि ये पाप-संस्कार तगड़े हैं, तो भोग के द्वारा इनका क्षय होते ही योग-संस्कार उन पर हावी हो जाएँगे।

यहाँ पर 'अवशः अपि' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। मनुष्य के संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि वह न चाहता हुआ भी उनके हाथों में खेलने लगता है। अर्जुन की उस बात का स्मरण करें—'अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः' (३/३६)—'मनुष्य इच्छा न करता हुआ भी मानो बलपूर्वक (पापकर्म में) ढकेल दिया जाता है।' तो, जैसे अशुभ संस्कार तगड़े होते हैं, वैसे ही शुभ के संस्कार भी। यहाँ पर 'योगभ्रष्ट' का प्रकरण चल रहा है। जिसके शुभ के संस्कार, साधना के संस्कार अत्यन्त तगड़े होते हैं, पर जो किसी कारणवश अन्त अन्त में लक्ष्य से च्युत हो जाता है, वही 'योगभ्रष्ट' कहलाता है। सामान्य रूप से साधना करनेवाला 'योगभ्रष्ट' की श्रेणी में नहीं आता।

श्लोक के उत्तरार्ध में कहा गया है कि 'योगस्य जिज्ञासुरपि हि शब्दब्रह्मातिवर्तते'—'निस्सन्देह योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म को पार कर जाता है।'

इस कथन को व्याख्याकारों ने योग की स्तुति मानी है। यहाँ पर ध्यानयोग का ही प्रकरण चल रहा है, जो हमारे भीतर समत्व-भाव को स्थापित करता है। जब तक हमारा चंचल मन शान्त नहीं हो जाता, तब तक किसी भी प्रकार की साधना फलवती नहीं हो पाती। प्रकारान्तर से देखें तो हर साधना-प्रणाली मन को शान्त करने पर ही जोर देती है। इसके लिए ध्यानयोग राजमार्ग है। तो,

श्लोक के उत्तरार्ध में कहा जा रहा है कि ऐसे ध्यानयोग का, समत्वरूप बुद्धियोग का जिज्ञासु भी निस्सन्देह शब्द-ब्रह्म को पार कर जाता है।

'शब्दब्रह्म' के अर्थ को लेकर व्याख्याकारों में पर्याप्त मतभेद है। पर अधिकांश व्याख्याकार इसमें एकमत हैं कि उसका अर्थ होता है 'वेद', और यहाँ पर उसका विशेष अर्थ है 'वेद के कर्मकाण्ड में प्रतिपादित लोक'। कहा जा चुका है कि वेद के मोटे तौर पर दो विभाजन किये जाते हैं——कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड में स्वर्गादि लोक प्राप्त करने के उद्देश्य से विभिन्न कर्मानुष्ठानों का वर्णन है। सामान्यत: वेद कहने से उसके इसी कर्मकाण्ड का बोध होता है, जहाँ सकाम कर्मानुष्ठान और उनसे मिलनेवाले स्वर्गादि भोगों का विवरण दिया गया है। अत: शब्दब्रह्म को पार करने का अर्थ हुआ——कर्म से मिलनेवाले भोगों की चाह से ऊपर उठ जाना। यह मानो अर्जुन के मन में इस सम्बन्ध में उठनेवाली अन्तिम शंका का उत्तर है।

अर्जुन को लगा कि पूर्वजन्म में योगाभ्यास यदि तगड़ा रहा हो, तब तो उसका प्रबल संस्कार इस जन्म की परिस्थितियों पर हावी हो जाएगा; किन्तु यदि पूर्वजन्म में उसने अभ्यास का मात्र आरम्भ ही किया हो, तो उसके संस्कार में इतनी शक्ति कहाँ से आएगी कि इस जन्म की परिस्थितियों को दबाकर वह योगाभ्यास में ही लग जाय? भगवान् कृष्ण अर्जुन के मन की बात भाँप लेते हैं और योग का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं कि अर्जुन, योग इतनी उत्तम वस्तु है कि जिसने उसकी 'जिज्ञासा' भी की हो, उसको जानने की इच्छा भी की हो, वह भी वेदोक्त

सकाम कर्मों के फल से कहीं अधिक फल पा लेता है. फिर जो अभ्यास में प्रवृत्त हो गया, उसका कहना ही क्या !

ऐसे योगाभ्यासी योगभ्रष्ट की परमगति-प्राप्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।।६/४५।।

तु (परन्तु) अनेकजन्मसंसिद्धः (अनेक जन्मों की साधना से संसिद्धि को पाया हुआ) प्रयत्नात् (प्रयत्नपूर्वक) यतमानः (अभ्यास करनेवाला) योगी (योगी) संशुद्धकिल्बिषः (पापों से अच्छी तरह शुद्ध हो जाता है) ततः (उसके पश्चात्) परां (परम) गतिं (गति को) याति (प्राप्त होता है) ।

"परन्तु अनेक जन्मों की साधना से (अन्तःकरण की शुद्धिरूप) संसिद्धि को पाया हुआ (तथा इस जन्म में) प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी (समस्त) पापों से अच्छी तरह शुद्ध हो जाता है (और) उसके पश्चात् परमगति को प्राप्त हो जाता है।"

यहाँ बता रहे हैं कि परमसिद्धि एक जन्म की साधना के फलस्वरूप नहीं मिल जाती । उसके लिए कई जन्मों तक साधना करनी पड़ती है । हर अगला जन्म पिछले जन्म के साधना-संस्कारों को तभी आगे बढाता है, जब उस अगले जन्म में भी प्रयत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय । मात्र पूर्वाभ्यास पर अपने को नहीं छोड़ देना चाहिए; पूर्वाभ्यास तो मनुष्य को रुचि, प्रवृत्ति देता है । यदि स्वयं प्रयत्न न किया जाय तो धीरे-धीरे वह प्रवृत्ति नष्ट हो जाएगी । हम जन्म-पर-जन्म साधना के संस्कारों के कोष को बढाते रहते हैं और एक जन्म ऐसा आता है, जब हमारा सारा समय योगाभ्यास में ही बीतता है । पर अपनी किसी भूल या दोष के कारण हम अन्त-अन्त में लक्ष्य

से च्युत हो जाते हैं। यही योगभ्रष्ट की अवस्था है। अगले जन्म में हम अपने समस्त प्राक्तन योगाभ्यास के संस्कारों को लेकर नवीन उत्साह से प्रयत्नपूर्वक अभ्यास में लग जाते हैं। श्रीधर स्वामी 'प्रयत्नात् यतमानः' की टीका करते हुए लिखते हैं—'उत्तरोत्तरमधिकं योगे यत्नं कुर्वन्' अर्थात् 'योग-साधन में उत्तरोत्तर अधिक प्रयत्न करते हुए'। फलस्वरूप हमारे चित्त की समस्त अशुद्धि धुल जाती है और हम परमगति को, परमपद को, परम धाम को, नैष्ठिकी शान्ति को, परब्रह्म परमात्मा को, योग के लक्ष्य को, जीवन के उद्देश्य को, परमसत्य को प्राप्त हो जाते हैं।

इतना सब बतलाने के पश्चात् अब भगवान् इस योग की महिमा का आख्यान करते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।६/४६।।

योगी (योगी) तपस्विभ्यः (तपस्वियों से) अधिकः (श्रेष्ठ है) ज्ञानिभ्यः (ज्ञानियों से) अपि (भी) अधिकः (श्रेष्ठ) मतः (माना गया है) च (और) कर्मिभ्यः (कर्मियों से) योगी (योगी) अधिकः (श्रेष्ठ है) तस्मात् (इसलिए) अर्जुन (हे अर्जुन) योगी (योगी) भव (हो)।

(बुद्धि के समत्व को प्राप्त हुआ यह) योगी तपस्वियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, (फिर शास्त्र का सैद्धान्तिक ज्ञान रखनेवाले परोक्ष) ज्ञानियों से भी (वह) श्रेष्ठ माना गया है और (सकाम कर्म करनेवाले वैदिक, स्मार्त, तन्त्र मतानुयायी) कर्मियों से (भी ऐसा) योगी श्रेष्ठ है। अतएव, हे अर्जुन, (तू) योगी हो।"

तपस्वियों में अपने तप का अहंकार होता है और शास्त्रज्ञानियों, परोक्षज्ञानियों में अपने पाण्डित्य का। यहाँ पर 'ज्ञानी' का अर्थ वह व्यक्ति है, जो सैद्धान्तिक

शास्त्रज्ञान का अभ्यास करता है और फलस्वरूप पाण्डित्य के अभिमान से पीड़ित होता है। जो यथार्थ का तत्त्वज्ञानी है, उसकी चर्चा ही यहाँ नहीं है। वैसे ही 'कर्मी' से सकाम कर्मियों का बोध कराया गया है। इस समत्व-योग की साधना में न तप के अहंकार का डर है, न पाण्डित्य के अभिमान का। यश-प्रतिष्ठारूप फल-वासना भी न होने के कारण यह समत्व-साधना यज्ञयागादि सकाम कर्मों से भी बढ़कर है। यदि व्यक्ति को बुद्धि की समता प्राप्त हो जाती है, जहाँ जीवन के सुख-दुःख उसे प्रभावित नहीं कर पाते, तो वह सर्वोच्च स्थिति है। भगवान् कृष्ण इसीलिए अर्जुन से कहते हैं कि 'तू योगी हो'।

'योग' शब्द का अर्थ हमने स्थान-स्थान पर स्पष्ट किया ही है, यह कहा है कि जहाँ भी वह बिना किसी विशेषण के प्राप्त होता है, वहाँ उसका अर्थ है 'कर्मयोग', जिसे 'समत्वरूप बुद्धियोग' कहकर भी पुकारा गया है। यद्यपि यह छठा अध्याय 'ध्यानयोग' या 'आत्मसंयमयोग' के नाम से प्रसिद्ध है तथा यहाँ पर ध्यानयोग की विशेष प्रणालियाँ भी दर्शित हुई हैं, फिर भी उसका तात्पर्य समत्व-योग ही प्राप्त करने से है। ध्यानयोग से चंचल चित्त स्थिर होता है और स्थिर चित्त ही समत्वयोग का आधार है।

उपसंहार करते हुए भगवान् अपनी दृष्टि से श्रेष्ठतम योगी का लक्षण बतलाते हैं——

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।६/४७।।

सर्वेषां (समस्त) योगिनाम् (योगियों में) अपि (भी) यः (जो) श्रद्धावान् (श्रद्धासम्पन्न) [योगी (योगी)] मद्गतेन (मुझमें लगे हुए) अन्तरात्मना (अन्तःकरण से) मां (मुझे) भजते

(भजता है) सः (वह) मे (मुझे) युक्ततमः (परमश्रेष्ठ) मतः (मान्य है) ।

"समस्त योगियों में भी जो श्रद्धासम्पन्न (योगी) मुझमें लगे हुए अन्तःकरण से मुझे भजता है, वह मुझे युक्ततम (परमश्रेष्ठ) मान्य है ।"

परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए गीता में कितने ही पथों का वर्णन हुआ है । चौथे अध्याय में २४ वें से ३०वें श्लोक तक कई प्रकार के यज्ञ बतलाये गये हैं और ३२वें श्लोक में यह कहा है कि ये सारे तथा अन्य जितने भी यज्ञ हैं, वे कर्मज हैं । फिर ३३वें श्लोक में यह बतलाया कि समस्त कर्मों का अवसान ज्ञान में होता है । तात्पर्य यह हुआ कि इनमें से प्रत्येक यज्ञ योग की चरम स्थिति––ज्ञान––को ही पाने का एक रास्ता है । इस प्रकार हर यज्ञ अपने आप में योग का ही एक प्रकार है । इसी तरह गीता के अन्य स्थानों पर भी विभिन्न साधनों का वर्णन है और उनमें से हर साधन भी योग का ही एक प्रकार है । अतएव इन पथों का अवलम्बन करनेवाले योगी हुए । इसी दृष्टि से भगवान् यहाँ पर 'सर्वेषां योगिनाम्' ऐसा कहकर बहुवचन में योगी शब्द का प्रयोग करते हैं ।

ऐसे सब योगियों में भी उनकी दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ योगी वह है, जो भगवान् के प्रति श्रद्धासम्पन्न होकर, उनमें अपने मन-प्राणों को पूरी तरह से लगाकर उन्हें भजता है । यह 'भजन' शब्द 'भज्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ होता है सेवा । तो, भजन का अर्थ है सेवा । सामान्यतः भजन का अर्थ हम उपासना या नाम-संकीर्तन आदि करते हैं । वास्तव में भजन वह सेवा है, जिससे सेव्य प्रसन्न होते हैं ।

इस प्रकार श्रेष्ठतम योगी के तीन लक्षण यहाँ भगवान्

ने बताये——(१) वह परमात्मा के प्रति श्रद्धासम्पन्न होगा। बिना श्रद्धा के वह उनसे जुड़ नहीं पाएगा। हम संसार में भी जिनसे जुड़ते हैं, उसकी पहली शर्त है उनके प्रति श्रद्धासम्पन्न होना। फिर श्रद्धा भी गुणों की जानकारी के बाद ही उपजती है। इसी प्रकार भगवान् के गुणों के चिन्तन से उनके प्रति श्रद्धा जन्म लेती है। (२) वह अपना मन-प्राण भगवान् में लगा देगा। हम उसी में अपना मन-प्राण लगाते हैं, जो हमें अत्यन्त प्रिय होता है। अतः श्रद्धा के बाद दूसरा सोपान है अनुराग। परमात्मा के प्रति तीव्र अनुराग का बोध होगा। संसार में जिसके प्रति हमारा तीव्र अनुराग होता है, उससे बिछोह हमें सह्य नहीं होता, हम सदैव उसके समीप रहना चाहते हैं। इसी प्रकार भगवान् के प्रति भी ऐसा ही आत्मीय बोध होना चाहिए। (३) वह भगवान् का भजन करेगा उनकी सेवा करेगा; ऐसी चेष्टाएँ करेगा, जिससे वे प्रसन्न हों।

इन तीन लक्षणों से जो युक्त है, वह भगवान् की दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ योगी है।

यहाँ पर 'माम्' कहकर भगवान् अपने दिव्य पुरुषोत्तम स्वरूप का ही निर्देश कर रहे हैं, जिस पर विशद विचार हम अपने ५८वें गीताप्रवचन में कर चुके हैं। और अपने इस कथन के द्वारा वे उस भक्तियोग का सूत्रपात करते हैं, जिस पर अगले सातवें अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक गीता चर्चा करेगी। हम कह चुके हैं कि यह भी गीता की एक प्रणाली है कि जिस विषय-वस्तु का सांगोपांग विवेचन किसी अध्याय में किया जाना रहता है, उसके पूर्व के अध्याय के अन्त-अन्त में उसका सूत्रपात कर दिया जाता है।

इस प्रकार यह छठा अध्याय समाप्त होता है। ऐसी बात प्रचलित है कि गीता के प्रथम छः अध्यायों में कर्मयोग का, उसके बाद के छः अध्यायों में भक्तियोग का और अन्तिम छः अध्यायों में ज्ञानयोग का प्रतिपादन हुआ है। यह भी माना जाता है कि महावाक्यों में जो 'तत् त्वम् असि' (वह तुम हो) महावाक्य है, उसके 'त्वम्'-पद का प्रतिपादन प्रथम छः अध्यायों में, 'तत्'-पद का बीच के छः अध्यायों में और 'असि'-पद का प्रतिपादन अन्त के छः अध्यायों में हुआ है। व्याख्याकारों की यह बात मात्र जानकारी के लिए यहाँ रख दी जा रही है।

O

माँ के सान्निध्य में (१७)

स्वामी अरूपानन्द

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र, नारायणपुर, जिला बस्तर के संचालक हैं।—स०)

८ मई १९१३, जयरामवाटी

राधू को बुखार और दर्द था। माँ कहने लगीं, "इस राधी के ऊपर अब मेरा तनिक भी मन नहीं है। उसका रोग देख-देखकर मुझे वितृष्णा हो गयी है। मन को मैंने जबरदस्ती लगाकर रखा है। ठाकुर से कहती हूँ, 'ठाकुर, राधी के ऊपर तनिक मन बैठा दो, नहीं तो उसे कौन देखेगा?' ऐसा रोग भी कहीं नहीं देखा। लगता है पूर्व-जन्म में यह रोग लेकर मरी थी, प्रायश्चित्त नहीं किया था, इसलिए ऐसा हुआ। मेरी दो चीजें करने की इच्छा है—एक किसी बैगा को दिखाने की कि ऐसा क्यों हो रहा है और दूसरी, चान्द्रायण व्रत करने की।

"ठाकुर को जब महाभाव होता था तो उस समय उन्हें ऐसा लगता था जैसे उनकी छाती पर आग के सात तवे जल रहे हों। पुस्तक में सब पढ़ा है तो? तब मेरे जेठ उन्हें गाव ले गये। पाण्डवा से एक बैगे को बुलाया गया। देवता का आविर्भाव होने से उस बैगे ने उनके बचपन का नाम लेते हुए कहा, 'ओ अमुक (गदाई)! तुम्हें यह महाभाव ईश्वर की कृपा से हुआ है। यह रोग नहीं है। पर तुम इतना अधिक सुपारी मत खाया करो।' सुपारी अधिक खाने से पुरुषों में काम-भाव बढ़ता है।

"मनुष्य जो रोग लेकर मरता है, यदि उसका प्रायश्चित्त न करे तो अगले जन्म में भी उसे वही रोग होता है। पर साधुओं के लिए यह सब कुछ नहीं है।"

केदार की माँ——वे लोग भगवान् का नाम लेते-लेते मरते हैं, इसलिए भगवान् को प्राप्त होते हैं।

माँ——हाँ, सही है। यह जो लड़का* कोआलपाड़ा में मर गया, उसका क्या पुनर्जन्म होगा ? नहीं होगा।

"काशीपुर में अपनी अस्वस्थता के समय ठाकुर ने कहा था, 'ऐसी बीमारी है और दक्षिणेश्वर के खजांची आदि लोग कहेंगे कि इसके लिए प्रायश्चित्त नहीं किया। सो ओ रामलाल ! तू दस रुपये लेकर दक्षिणेश्वर जा और माँ काली को निवेदित करके ब्राह्मण आदि के बीच बाँट देना।'

"साधु कर्मानुष्ठान नहीं कर सकता, इसीलिए उन्होंने रुपया इष्ट को निवेदित करके बाँटने को कहा। ऋषि-मुनि

* द्वारिक मजुमदार। लड़का बी.ए. परीक्षा देकर ही जयरामवाटी गया था। गरीब माँ-बाप ने उसे बड़े कष्ट से पढ़ाया था तथा एकमात्र पुत्र होने से उसका विवाह निश्चित किया था। माँ-बाप के अनुरोध से लड़का इसके लिए राजी हो गया था। श्री माँ से उसने सारी घटना कही। माँ ने आशीर्वाद देते हुए कहा, "डर की क्या बात है। ठाकुर के भक्त लोग——बलराम बाबू आदि सब गृहस्थ थे। उन्होंने उन लोगों को अभय दिया था।" वह लड़का लौटते समय पेचिश से ग्रस्त हुआ और छः-सात दिन के भीतर ही मर गया। अन्तिम समय में वह होश-हवाश में ठाकुर का नाम लेता रहा और 'रामकृष्ण प्रेमानन्दे हरि हरि बोल' कहते हुए उसके प्राण निकले। माँ के पास खबर पहुँचने पर उन्होंने बहुत दुःखित हो कहा था, "यहाँ आकर ऐसा किसी का नहीं हुआ"——अर्थात् उनके दर्शन के लिए आये ऐसे किसी की मृत्यु नहीं हुई थी।

लोग जंगल में रहते थे। उनके लिए क्या चान्द्रायण करना सम्भव था? वे लोग फल-फूल आदि इष्ट को समर्पित करके बाँट देते थे। उसी से उनका हो जाता था।"

पगली मामी—मेरी मौसी रोग लेकर मरी है। तो क्या उसको वही रोग होगा?

माँ—क्या तुम्हारी मौसी ने मरकर फिर जन्म नहीं लिया है? मरने के बाद उसका जन्म भी हुआ है और उसका रोग भी उसके साथ चला आया है।

"अनेक बार कर्मफल के कारण एक वंशवाले बार-बार उसी वंश में जन्म लेते और मरते हैं। गंगा में पिण्ड देने से तब कहीं उद्धार होता है।"

रात में भोजन के पश्चात् मैं माँ के कमरे में पान लेने को गया। राँची के एक भक्त ने ठाकुर का दर्शन पाया था यह घटना मैं माँ को सुनाने लगा—एक व्यक्ति साधु-दर्शन हेतु दक्षिणेश्वर में ठाकुर के पास कभी-कभी जाता था। वह दुबला और ठिगना था। ठाकुर उसे 'पका सरसों' कहकर बुलाते थे। ठाकुर के देहत्याग के अनेक वर्ष बाद जब वह शिलांग में नौकरी कर रहा था, तब उसकी ठाकुर के प्रति विशेष भक्ति हुई। उसका आफिस शिलांग से ढाका आया और फिर ढाका से राँची। राँची में वह रात में सोया हुआ था कि अचानक किसी की पुकार सुन उसकी नींद टूट गयी। उसने सुना कि कोई पुकार रहा है, 'ओ, पके सरसों!' वह चकित हो सोचने लगा कि मेरे इस नाम को तो और कोई नहीं जानता? केवल ठाकुर ही मुझे इस नाम से पुकारते थे। दरवाजा खोलकर उसने देखा कि ठाकुर ही रास्ते में खड़े हुए हैं—गेरुआ वस्त्र है, पैर में खड़ाऊँ और हाथ में चिमटा है! चाँदनी रात थी।

वे कह रहे थे, 'अरे, यहाँ (स्वयं) की कुछ चर्चा करो। ढाका में भले उसकी आवश्यकता नहीं थी, पर यहाँ उसे क्यों बन्द कर दिया? ऐसा मत करो'——यह कहकर वे अन्तर्धान हो गये।

शिलांग में इन लोगों ने एक समिति-जैसा बनाया था। वहाँ 'कथामृत' (वचनामृत) आदि का पाठ होता था। शिलांग से जब वे लोग ढाका पहुँचे, तो वहाँ पहले से ही एक समिति कार्य कर रही थी। अतः ये भक्त लोग वहीं योगदान देते रहे और इनकी पहले की समिति का अस्तित्व नहीं रहा। वहाँ से जब ये लोग राँची पहुँचे, तो शिलाग की भाँति कथामृत-पाठ प्रारम्भ नहीं हो पाया था। अतः समिति बन्द ही थी।

मैंने माँ से पूछा, "माँ, ठाकुर के पैरों में खड़ाऊँ और हाथ में चिमटा क्यों दिखा?"

माँ——वह संन्यासी का वेश है न? उन्होंने बाउल के वेश में आने की बात कही है——देह में अलखल्ला, सिर पर जटा और थोड़ी थोड़ी दाढ़ी। उन्होंने कहा था, 'वर्धमान के रास्ते से देश को जाऊँगा, रास्ते में किसी का लड़का टट्टी फिरता मिलेगा। हाथ में पत्थर का टूटा बर्तन और बगल में एक झोला होगा।' जा रहे हैं तो जा ही रहे हैं, खा रहे हैं तो खा ही रहे हैं, इधर-उधर कोई ख्याल नहीं है।

मैं——वर्धमान के रास्ते से क्यों?

माँ——उधर ही तो देश (जन्मस्थान) है।

मैं——तब क्या वे बंगाली होंगे?

माँ——हाँ, बंगाली। मैंने उनकी बात सुनकर कहा, 'यह तुम्हारी,कैसी इच्छा है?' उन्होंने हँसकर कहा, 'हाँ, तुम्हारे हाथ में हुक्का-गुड़गुड़ी होगी।'

यह कहकर माँ ने वृन्दावन में हुक्का पकड़ने की घटना का वर्णन किया।

मैंने कहा, "हमारे देश (अंचल) में कोई नहीं आया। तुम हमारे देश में जाना (अगले जन्म में)।"

इसी बार वहाँ जाने की बात कह रहा हूँ ऐसा सोचकर माँ कहने लगीं, "तुम्हारे यहाँ कैसे जाना होता है? रेल से, जहाज से या स्टीमर से? तुम्हारे उस देश में एक बार जाने से अच्छा होता। उनकी यदि इच्छा होगी तो होगा। उधर जाना नहीं हो पाया है। उन्होंने मुझसे कहा था, 'मेरा जिन स्थानों में जाना नहीं हो पाया है, तुम उन सब स्थानों में जाना।' इसीलिए उनके आशीर्वाद से रामेश्वर आदि जाना हुआ।"

मैं---माँ, शास्त्र म दस अवतारों की बात है। चैतन्य, रामकृष्ण आदि अवतारों का तो वर्णन नहीं है।

माँ---जानते हो यह सब उनके खेल हैं, उनकी इच्छा है।

मैं---वे किस गाँव में जन्म लेंगे?

माँ---क्या जानूं, मुझे नहीं मालूम।

और यह कहकर उन्होंने प्रसंग को दबा दिया।

(क्रमशः)

○

सुभाषचन्द्र बोस के प्रेरणापुरुष : श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द (२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर–४४००१२)

कलकत्ते में सुभाष को सर्वश्रेष्ठ महाविद्यालय में प्रवेश मिला, जो प्रेसीडेंसी कालेज के नाम से मशहूर था। वहाँ आकर वे अपने समान विचारोंवाले सहपाठियों की खोज करने लगे। शीघ्र ही उन्हें पता चला कि कालेज में चार प्रकार के विद्यार्थियों के दल हैं। एक श्रेणी थी राजाओं, जमींदारों और धनी परिवार के विद्यार्थियों की तथा उनसे सम्पर्क रखने के इच्छुक छात्रों की; दूसरा प्रकार उनका था जिन्हें किताबी-कीड़ा कहा जा सकता है; तीसरी टोली ऐसे विद्यार्थियों की थी जो रामकृष्ण-विवेकानन्द के आदर्शों पर चलने का प्रयास कर रहे थे और चौथा था गुप्त क्रान्तिकारियों का दल। अब यह स्वाभाविक ही था कि सुभाष तीसरी टोली के साथ संयुक्त हो गये। मेडिकल कालेज के दो छात्र सुरेशचन्द्र बन्द्योपाध्याय और युगलकिशोर आद्य इस दल के नेता थे। इस दल की विचारधारा के बारे में सुभाष लिखते हैं—"यह टोली आम तौर पर रामकृष्ण और विवेकानन्द के बताये मार्ग पर चलती थी, लेकिन आध्यात्मिक उन्नति के लिए सेवा पर जोर दिया करती थी। समाज-सेवा से उनका तात्पर्य अस्पताल या दातव्य चिकित्सालय स्थापित करना नहीं था, जैसा कि विवेकानन्द के शिष्य किया करते थे, बल्कि मुख्यत: शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय पुनर्निर्माण था।... अत: हमें नव-विवेकानन्द टोली कहा जा सकता था और हमारा मुख्य उद्देश्य था धर्म

और राष्ट्रीयता का न केवल सैद्धान्तिक रूप में बल्कि वास्तविक जीवन में भी समन्वय ।"[१]

इस टोली के छात्र बड़े सक्रिय तथा कुशाग्रबुद्धि थे । वे लोग नये नये छात्रों को अपनी टोली में भरती करते रहते; दर्शन, इतिहास और राष्ट्रीयता आदि विषयक पुस्तकें पढ़कर नये विचार ढूँढ़ निकालते और उनका आपस में आदान-प्रदान करते थे तथा अपने काल के महत्त्व-पूर्ण व्यक्तियों से सम्पर्क साधने का भी प्रयास करते रहते थे । छुट्टियों में ये लोग आध्यात्मिक प्रेरणा की खोज में हरिद्वार आदि स्थानों की तथा ज्ञानवर्धन के निमित्त ऐति-हासिक महत्त्व के स्थानों की यात्रा किया करते थे । कभी वे लोग गुरुकुल कांगड़ी या शान्तिनिकेतन जाकर वहाँ की शिक्षाप्रणाली का अध्ययन करते, तो कभी बेलुड़ मठ में जाकर निवास करते । उसी वर्ष जाड़े के दिनों में इस दल ने कलकत्ते से ५० मील दूर स्थित शान्तिपुर में एक शिविर लगाया था, जिसमें सभी सदस्यों ने गेरुए वस्त्र धारण कर भाग लिया था ।

उन दिनों कलकत्ते की राजनीति में श्री अरविन्द घोष और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी का बड़ा नाम था, परन्तु इन दिनों सुभाष की रुचि धर्म और समाज-सेवा तक ही सीमित रही । इन्हीं दिनों उन्होंने दक्षिण कलकत्ता की एक संस्था 'अनाथ भण्डार' के लिए प्रति रविवार को घर घर जाकर भिक्षा मागने का कार्य भी प्रारम्भ किया । छुट्टियों के दौरान घर आने पर वे अपने कुछ मित्रों के साथ हैजे के रोगियों की सेवा के लिए एक सप्ताह तक ग्रामीण क्षेत्रों का भी दौरा करते रहे । फिर कलकत्ता लौटने पर फिर अच्छे

१. 'नेताजी,' पृ० ४९।

साधु-संन्यासियों की तलाश में लग गये, पर कहीं भी उन्हें पूर्ण सन्तुष्टि नहीं हुई।

उस वर्ष की पढ़ाई पूरी होते होते उनकी गुरु-प्राप्ति की अभिलाषा इतनी तीव्र हो उठी कि १९१४ ई. की गर्मी की छुट्टियों में वे अपने एक मित्र हेमन्तकुमार सरकार के साथ तीर्थाटन को निकल पड़े। सम्भवतः उन्हें वापस घर लौटने की इच्छा न थी और प्रस्थान के बाद रास्ते से एक पत्र लिखकर अपने परिवार को इसकी सूचना भी दे दी थी। हरिद्वार पहुँचने पर एक और मित्र उनकी टोली में सम्मिलित हो गया। वे लोग ऋषिकेश, मथुरा, वृन्दावन, दिल्ली, आगरा, वाराणसी और गया आदि स्थानों को गये। इस यात्रा में वे जितने भी प्रकार के आश्रम देख सकते थे देखा, जितनी भी तरह के साधु-संन्यासियों से मिल सकते थे मिले। कहीं उनका स्वागत हुआ, तो कहीं अपमानित होना पड़ा और कहीं कहीं तो उन पर छद्मवेषी क्रान्तिकारी होने का सन्देह किया गया। वे लोग रामकृष्ण मठ और मिशन के भी किसी किसी केन्द्र में गये थे। सुभाष बाबू ने लिखा है--"हम वाराणसी आये, जहाँ हमारा स्वागत रामकृष्ण मिशन में मठ के स्वर्गीय स्वामी ब्रह्मानन्द ने किया, जो मेरे पिताजी और परिवार से भलीभाँति परिचित थे।" [२]

उस अवसर पर श्रीरामकृष्ण के मानसपुत्र और स्वामी विवेकानन्द के उत्तराधिकारी ब्रह्मानन्दजी ने उनसे क्या बातें की थीं और क्या उपदेश दिये थे--इस विषय में थोड़ा सा विवरण मिलता है दिलीपकुमार राय के संस्मरणों में। दिलीप जब सुभाष को स्वामी ब्रह्मानन्द के

२. वही, पृष्ठ ५९।

अपने संस्मरण सुनाने लगे तो सुभाष के मानस पटल पर पुरानी यादें ताजी हो आयी थीं, उनके नेत्र छलछला उठे थे और वे दिलीप के दोनों हाथ पकड़कर कह उठे थे—"जिसे कृपा मिलती है, उसका जीवन ही बदल जाता है।. . . मुझे भी उस कृपा का आभास मिला है, इसीलिए तो देश के कार्य हेतु जीवन देकर इसे सार्थक कर देना चाहता हूँ। तुम्हें यह भी बता दूँ कि इन्हीं राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) ने मुझे काशी से यह कहकर वापस लौटा दिया था कि तुझे देश का काम करना है।"[3]

क्रान्तिकारी नरेन्द्रनारायण चक्रवर्ती ने अपने जीवन का बारह वर्ष से अधिक काल जेल में बिताया था। वे नेताजी सम्बन्धी अपनी स्मृतिकथा में उपर्युक्त प्रसंग में लिखते हैं—"स्वामी ब्रह्मानन्द से उन्हें भावी जीवन के बारे में पथ-प्रदर्शन मिला था। सुभाष जब सद्गुरु की तलाश में उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हुए काशी-धाम आये थे, तभी उनकी भेंट स्वामी ब्रह्मानन्द के साथ हुई थी। उनके पिता जानकीनाथ ब्रह्मानन्दजी के प्रिय पात्र थे। सुभाष का परिचय और मनोभाव जानने के बाद ब्रह्मानन्द स्वामी ने सुभाष को सस्नेह निकट खींच लिया था और शरीर एवं सिर पर हाथ फेरते हुए घर लौट जाने को कहा था। उन्होंने यह भी कहा था कि सुभाष के लिए उनका अद्भुत भावी प्रतीक्षा कर रहा है। विरागी सुभाष ने उस दिन उनकी बातें शिरोधार्य की थीं और संन्यास-ग्रहण की प्रबल आकांक्षा को प्रशमित कर घर लौट आये

३. प्रो० शंकरीप्रसाद बसु द्वारा अपने बँगला ग्रन्थ 'स्वामी विवेकानन्द और समकालीन भारतवर्ष', खण्ड ७, पृ. १२७-२८ में उद्धृत (अब से यह ग्रन्थ 'समकालीन' कहकर उद्धृत होगा)।

थे । १९३९ ई. में (सुभाष के साथ) कारागृह में (रहते समय) राजनीति को छोड़ प्रायः किसी अन्य विषय पर चर्चा नहीं होती थी । तो भी बीच बीच में वे अपने बचपन तथा किशोरावस्था की बातें बताया करते थे । एक ऐसे ही अवसर पर उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्द के साथ अपनी मुलाकात के बारे में बताया था ।...मैंने पूछा था, '(स्वामी ब्रह्मानन्द ने आपको जो घर लौटने को कहा था, उसमें आपके) पिता की बात सोचकर अर्थात् घर भेज देने से आपके पिताजी आनन्दित होंगे, यह तो एक पक्ष हुआ; दूसरा पक्ष यह हुआ कि स्वामी ब्रह्मानन्द आपके आज के जीवन को उसी दिन जान गये थे । इन दोनों में से कौन सा पक्ष सत्य है ?' सुभाष ने कहा था, 'दोनों ही सत्य हैं । पिताजी की बात का उन्हें बिल्कुल भी ध्यान नहीं था, यह मैं नहीं कहता । परन्तु इसके अतिरिक्त था ब्रह्मानन्द स्वामीजी का अन्तर्बोध । मैं योग की शक्ति में विश्वासी हूँ । ठाकुर रामकृष्ण बिना कारण ही राखाल-राखाल नहीं किया करते थे । उनकी (ब्रह्मानन्दजी की) विशेषता को समझ लेने पर ही हमारी समझ में आएगा कि विवेकानन्दजी ने क्यों बाकी सबको छोड़ राखाल को ही मिशन का अध्यक्ष बनाया था ।''[४]

एक सच्चे गुरु की पहचान बताते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि गुरु वह है, जो तुम्हारे भूत और भविष्य को जान ले । महान् सद्गुरु स्वामी ब्रह्मानन्द ने सुभाष का भविष्य जान लिया था और उन्हें स्वामीजी के ग्रन्थों का भलीभाँति अध्ययन कर तदनुसार जीवनगठन और राष्ट्र की सेवा में आत्मोत्सर्ग का उपदेश दिया था ।

---

४. वही, खण्ड ६, पृ. २२९ ।

वाराणसी से वापस लौटते समय सुभाष वहाँ के रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष से एक परिचय-पत्र लेते आये थे, जिसकी सहायता से कुछ काल बोधगया के एक मठ में ठहरे और तदुपरान्त पूरे दो महीनों का भ्रमण समाप्त कर वापस घर पहुँचे । (क्रमशः)

○

पुस्तक–समीक्षा

साहित्य वीथी

(१)

पत्रिका का नाम—— **'श्रीरामकृष्ण ज्योत'**
भाषा —— **गुजराती**
नियतकालिता —— **मासिक**
प्रकाशक —— **श्रीरामकृष्ण आश्रम राजकोट–३६०००१**
चन्दा —— **भारत में : १वर्ष के लिए ३०), एक प्रति ३)**
विदेश में : ,, ,, (सरफेस मेल से) १३५)
,, ,, (हवाई डाक से) २२५)

'श्रीरामकृष्ण ज्योत' पत्रिका, अप्रैल १९८९ से श्रीरामकृष्ण आश्रम, राजकोट से प्रकाशित हो रही है । अभी तक निकले तीन अंक पत्रिका के उद्देश्य, सामर्थ्य एवं भावी समृद्धि के स्वयं परिचायक हैं ।

उदात्त आदर्शों तथा महान् उद्देश्यों की संस्था श्री रामकृष्ण मिशन इस पत्रिका के माध्यम से अपने शाश्वत आध्यात्मिक मूल्यों के प्रचार-प्रसार करने का महत्त्वपूर्ण कार्य बड़ी सफलता से कर सकेगी इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । इस तथ्य का प्रमाण पत्रिका के अप्रैल, मई और जून के अंक हैं ।

पत्रिका में गूढ़ विषयों का प्रतिपादन सरल भाषा-शैली में किया गया है। उदाहरणार्थ, सभी को इस बात की जिज्ञासा होती है कि दीक्षा की क्या आवश्यकता है? पत्रिका में इसका अत्यन्त सुन्दर स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है कि जिस प्रकार पुस्तक पढ़ने के लिए अक्षर-ज्ञान तथा अक्षर-ज्ञान के लिए शिक्षक की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान के लिए दीक्षा की आवश्यकता है। ईश्वर में किस प्रकार मन को रमाया जाए यह प्रश्न भी सांसारिक व्यक्ति के मन में सामान्य रूप से आता है। इसका समाधान भी पत्रिका में किया गया है। ईश्वर का नाम-गुणगान, कीर्तन और सत्संग हमेशा एकान्त में होना चाहिए तथा सब काम करते हुए भी मन को ईश्वर में रखना ही मन का ईश्वर में रमना है। इससे व्यक्ति सांसारिक कर्तव्य करते हुए भी आध्यात्मिक मार्ग पर सरलता से चल सकता है। इसके लिए संसार छोड़ने की आवश्यकता नहीं।

सामान्य व्यक्ति के लिए श्रीरामकृष्ण के सन्देश के मर्म को समझना कठिन है। किन्तु वही बात यहाँ बड़ी सहजता एवं स्पष्टता से बता दी गयी है। श्रीरामकृष्ण के अनुसार परब्रह्म में व्यक्ति का सम्पूर्ण रूप से लीन होना ही ईश्वर का साक्षात्कार है और इस आत्म-साक्षात्कार के आनन्द को दूसरों तक पहुँचाने से ही पूर्णता आती है तथा यही आध्यात्मिक मार्ग की उपलब्धि है——यह अत्यधिक गूढ़ सत्य बड़े सुन्दर एवं सरल शब्दों में प्रतिपादित किया गया है।

पत्रिका में एक लेख श्री माँ सारदादेवी तथा वर्तमान युगधर्म पर दिया गया है। इसमें श्री माँ ने किस प्रकार विश्वव्यापी मातृत्व के रूप में आदर्श जीवन का प्रत्यक्ष उदाहरण रखकर भारतीय आदर्शों की प्रतिष्ठा करनी चाही है, जिससे उन दिग्भ्रमित महिलाओं का सही मार्गदर्शन हो सके जो पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण से भारतीय संस्कृति के मूल आदर्शों को भूल रही हैं——इसका मर्मस्पर्शी प्रस्तुतीकरण किया गया है।

सच्ची शिक्षा क्या है, मानसिक शान्ति किस प्रकार प्राप्त हो सकती है, जैसी गम्भीर जिज्ञासाओं का अच्छा समाधान देने की दिशा में पत्रिका एक सशक्त प्रयास है। इसी प्रकार गीता एवं महाभारत का सार भी सामान्य जनता के समझने योग्य शैली में बताया गया है।

कुल मिलाकर यह कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि धर्म, तत्त्वज्ञान, इतिहास, संस्कृति आदि विषयों की सरल एवं तात्त्विक जानकारी देनेवाली यह पत्रिका जनता के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन को निश्चित रूप से समृद्ध बनाएगी । श्रीरामकृष्ण आश्रम, राजकोट की यह 'श्रीरामकृष्ण ज्योत' पाठकों के मन में ब्रह्मज्ञान की एक अद्भुत ज्योति प्रज्वलित करेगी––इसमें संशय नहीं । इस प्रयास के लिए आश्रम बधाई का पात्र है ।

—डा० कृष्णा माहेश्वरी
पत्रकार, 'हिन्दी व्यापार'

○

(२)

पुस्तक का नाम : With the Swamis in America and India

लेखक : **स्वामी अतुलानन्द**

सम्पादन : **प्रव्राजिका ब्रह्मप्राणा**

प्रस्तावना : **स्वामी स्वाहानन्द**

प्रकाशक : **अद्वैत आश्रम, ५, डिही एण्टेली रोड, कलकत्ता-७०००१४**

संस्करण : **प्रथम, नवम्बर १९८८**

पृष्ठसंख्या : **३४८ + अट्ठाईस । पेपर बैक । मूल्य-चालीस रुपये ।**

माँ सारदा को श्रीरामकृष्ण ने एक बार समाधि में हुए एक अनुभव के बारे में बताते हुए कहा था; "देखो, मैं (समाधि में) एक देश में गया था । वहाँ के लोग सब गोरे थे । अहा, उनकी कैसी भक्ति थी !" यह था पाश्चात्य देशों में श्रीरामकृष्ण भावा-

न्दोलन के प्रसार का पूर्वाभास। अनेक वर्षों बाद स्वामी विवेकानन्द को स्वयं श्रीरामकृष्ण द्वारा विदेश-गमन का आदेश प्राप्त हुआ था। स्वामीजी को एक दिव्य दर्शन हुआ, जिसमें उन्होंने श्रीरामकृष्ण को सागर पर होकर जाते तथा उन्हें अपने पीछे आने का आह्वान करते देखा था। भले ही स्वामीजी शिकागो में हो रही विश्व-धर्म-महासभा में सम्मिलित होने तथा भारत के उत्थान के लिए विदेशों से अर्थ-संग्रह के आपात-उद्देश्य से अमेरिका गये थे, परन्तु वहाँ जाकर उन्होंने यह अनुभव किया कि अमेरिकावासी भौतिक दृष्टि से समृद्ध होते हुए भी आध्यात्मिक दृष्टि से कंगाल हैं। अतः समग्र मानवजाति के प्रति करुणा-विगलित हो उन्होंने विदेशों में वेदान्त-प्रचार आरम्भ किया। इस प्रारब्ध कार्य की प्रगति बनाये रखने के लिए वहाँ वेदान्त-समितियों की स्थापना की, वहाँ के अधिकारी शिष्यों को संन्यास में दीक्षित किया तथा अपने अन्य गुरुभाइयों को अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में धर्म-प्रचार के लिए भेजा।

स्वामी विवेकानन्द द्वारा रोपित तथा तुरीयानन्द, अभेदानन्द प्रभृति उनके गुरु भाइयों एवं प्रकाशानन्द आदि उनके शिष्यों द्वारा पोषित वेदान्त-बीज ने पल्लवित एवं पुष्पित होते हुए एक बृहत् एवं सुशोभन वृक्ष का रूप धारण कर लिया है। लेकिन श्रीरामकृष्ण के हम भारतीय भक्त उसके इतिहास एवं स्वरूप से अनभिज्ञ तथा उसके माधुर्य से वंचित हैं। प्रस्तुत पुस्तक अमेरिका में वेदान्त-आन्दोलन के इतिहास की एक झलक ही प्रस्तुत नहीं करती, बल्कि उसके वैशिष्ट्य से हमें अवगत कराती है तथा उसका सौरभ हम तक पहुँचाती है।

'विथ द स्वामीज़ इन अमेरिका एण्ड इण्डिया' के लेखक स्वामी अतुलानन्द या गुरुदास महाराज रामकृष्ण मिशन के एक वरिष्ठ अमेरिकन संन्यासी थे। वे सन् १८९८ में सर्वप्रथम स्वामी

अभेदानन्दजी के सम्पर्क में आये थे तथा तब से सन् १९६६ में अपनी महासमाधि तक लगभग सात दशकों तक रामकृष्ण भावान्दोलन के घनिष्ठ सम्पर्क में रहे थे। अपने दीर्घ जीवन के अन्तिम चवालीस वर्ष उन्होंने भारत में बिताये थे। वे माँ सारदा के मंत्रशिष्य थे तथा उन्हें श्रीरामकृष्ण के अनेक संन्यासी शिष्यों के घनिष्ठ सम्पर्क में आने एवं उनका स्नेहभाजन होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। स्वामी तुरीयानन्दजी के वे विशेष प्रिय थे। तुरीयानन्दजी कहते थे, "यदि मैं एक व्यक्ति को ईश्वर-साक्षात्कार करने में सहायक हो सकूँ तो सन्तुष्ट होऊँगा।" पूछने पर कि क्या ऐसा कोई व्यक्ति है, वे गुरुदास महाराज की ओर इंगित कर देते थे। प्रस्तुत ग्रन्थ पढ़ने पर इस बात में कोई संशय नहीं रह जाता कि इसके लेखक आत्मानुभूति में प्रतिष्ठित एवं माँ जगदम्बा पर अनन्य रूप से आश्रित एक उच्च कोटि के सन्त थे। मूलतः ज्ञानी होते हुए भी पुस्तक पढ़ने पर उनकी श्रीरामकृष्ण के प्रति अटूट निष्ठा का प्रमाण पाकर मुख से श्रीरामकृष्ण के से शब्द फट पड़ते हैं—"अहा! कैसी भक्ति!"

प्रकाशकीय, प्रस्तावना, सम्पादकीय तथा परिशिष्टों के अतिरिक्त पुस्तक तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में स्वामी अतुलानन्द की संक्षिप्त जीवनी है, जो उनके व्यक्तित्व एवं पुस्तक की पृष्ठभूमि से पाठक को अवगत कराती है। दूसरा भाग अतुलानन्दजी के अमेरिका में स्वामी तुरीयानन्द के वेदान्त-प्रचार कार्य विषयक लेखों का संकलन है, जो सर्वप्रथम 'प्रबुद्ध भारत' में धारावाहिक रूप से तथा बाद में 'विथ द स्वामीज़ इन अमेरिका' नामक पुस्तक में संकलित होकर छपे थे। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण बहुत पहले ही समाप्त हो गया था। प्रस्तुत ग्रन्थ को उसी का परिवर्धित संस्करण कहा जा सकता है, जो पचास वर्षों बाद पुनः प्रकाशित हुआ है, जिसमें प्रथम एवं तृतीय भाग जोड़ दिये गये हैं।

तृतीय भाग मुख्यत: स्वामी अतुलानन्द के उज्ज्वला या कु० आईडा ऐंसल को लिखे पत्रों के अंशों का संकलन है । उज्ज्वला ने सर्वप्रथम केलिफोर्निया में स्वामी विवेकानन्द को देखा था तथा एक द्रुतलिपिक के रूप में उनके लेखों को लिखा था । तब से वे लगभग पचास वर्षों तक केलिफोर्निया में वेदान्त-भावालोन्दन के साथ संलग्न रहीं । इन पत्रों में हम गुरुदास महाराज के अपनी एक सहसाधिका एवं आश्रमवासिनी के प्रति निश्छल बड़े भाई के से व्यवहार की झलक पाते हैं । उज्ज्वला अपनी मृत्यु के समय गुरुदास महाराज के २५० पत्रों का संग्रह छोड़ गयी थीं । इसके अतिरिक्त उस काल सम्बन्धी अन्य पत्र एवं लेख तथा स्वामी तुरीयानन्द के कुछ पत्र आदि भी थे, जो वेदान्तान्दोलन के उस प्रारम्भिक काल की एक अत्यन्त प्रामाणिक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं ।

इस तीसरे भाग में छोटे-बड़े पत्रांशों को पाठक की सुविधा के लिए 'आध्यात्मिक जीवन', 'अनुभूति', 'शान्ति आश्रम', 'भारत', 'प्राच्य-पाश्चात्य में वेदान्त', 'तीर्थाटन' आदि विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत सजाया गया है । इस व्यवस्था के फलस्वरूप पत्रों के टुकड़े होते हुए भी असम्बद्धता प्रतीत नहीं होती, न ही अरुचि या ऊब का अनुभव होता है। उनमें दैनन्दिन विषयों की चर्चा होते हुए भी सर्वत्र आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक निर्देश बिखरे पड़े हैं । लेखक कभी-कभी विशुद्ध लौकिक विषय पर अपना मत प्रकट करता-सा प्रतीत होता है, लेकिन पाठक के मानस-पटल से आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि कभी ओझल नहीं होती । पुस्तक का यह तृतीयांश संघर्षरत साधक की दैनन्दिन व्यावहारिक समस्याओं के अनेक सुन्दर एवं सरल समाधान प्रदान करता है। व्यावहारिक जीवन में वेदान्त का क्या रूप होना चाहिए, इसकी स्पष्ट झलक इस अंश में हमें प्राप्त होती है। उदाहरण स्वरूप एक पत्रांश :

"...सर्वप्रथम तो तुम 'वेदान्त-कार्य' तथा 'आफिस-कार्य' में अन्तर कर रही हो।...वेदान्त-कार्य से तुम्हारा अर्थ है वेदान्त सोसायटी का निर्माण, उसकी सदस्य-संख्या में वृद्धि, अधिक धन-संग्रह, वेदान्त सोसायटी का भवन, प्रकाशन आदि। लेकिन क्या वेदान्त-कार्य निष्ठापूर्वक, ईमानदारी और लगन से अपना कर्तव्य पालन करने में अधिक अभिव्यक्त नहीं होता ?...कर्तव्य की हमारी मान्यता भी हमारे ज्ञान और बुद्धि के विकास के साथ परिवर्तित होती है।

"...और अपना कार्य पूरी क्षमता के साथ करने के बाद भी तुम्हें कुछ खाली समय मिलेगा, जिसमें तुम अपने मन को शान्त करके जीवन की अनित्यता का चिन्तन कर सकती हो कि तुम चंचल देह या मन नहीं हो बल्कि आत्मा हो; और श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक भगवन्नाम का जप कर सकती हो। उस समय जब तुम्हें आफिस का कार्य करना चाहिए, चोरी-छिपे वेदान्त समिति का कार्य करने की तुलना में क्या यह अधिक सन्तोषप्रद नहीं होगा ? एक दृढ़ चरित्र ही धर्म की नींव है। अपने कर्तव्य को भलीभाँति करने से चरित्र-निर्माण होता है एवं उसी पर हम आध्यात्मिकता का निर्माण करते हैं। हमारे जीवन से यह परिलक्षित होना चाहिए कि हम वेदान्ती हैं।"

यह पुस्तक वेदान्तान्दोलन में रुचि रखनेवाले भारतीयों एवं विदेशियों, आध्यात्मिक साधक एवं कर्तव्यपरायण सामान्य नागरिक, सभी के लिए उपयोगी है। इसे 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', 'स्वामी ब्रह्मानन्दजी के उपदेश', 'धर्मप्रसंग में स्वामी शिवानन्द', 'परमार्थ-प्रसंग', धर्म-जीवन तथा साधना' आदि रामकृष्ण-भावान्दोलन की आध्यात्मिक साधनोपयोगी ग्रन्थमाला के नवीनतम पुष्प

के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस माला के प्रत्येक सुमन की तरह इसका भी अपना वैशिष्ट्य है ।

समीक्षक को पुस्तक-चयन का अधिकार नहीं होता, लेकिन ऐसी उच्चकोटि की पुस्तक की समीक्षा का अवसर प्रदान करने के लिए यह पत्रिका के सम्पादक का आभारी हुए बिना नहीं रह सकता।

स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

○